सिद्धयोग

[illegible]

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, [illegible]

प्रकाशक

संयुक्त सम्पादक

[illegible]

फोन ११३६८

इस अंक में—

क्रम संख्या	लेख	लेखक	पृष्ठ
१.	श्री [illegible]	....	१
२.	ईश्वर प्रणिधान (विशेष लेख)	[illegible] श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	२
३.	हे विश्वम्भर! तुम्हारी जय हो!	स्वामी श्री रामदासजी	५
४.	जीवन की पूर्णिमा	डा० श्री मुंशीराम शर्मा	७
५.	सत्यं-शिवं-सुन्दरम्	सं० सं०	१२
६.	वेदों एवं उपनिषदों में योगचर्या	श्री कैलाश उपाध्याय	१३
७.	गीता-महिमा	श्री बलवन्तसिंह सोनी	१७
८.	श्री ठाकुर रामनाम स्तोत्र (कविता)	श्री जगदीशचरण शास्त्री विशारद, 'मधुप'	१९
९.	पाप और पुण्य	श्री पं० श्यामलाल जी	२४
१०.	[illegible] (कविता)	श्री राघवेन्द्र तिवारी	३२
११.	महात्मा श्री [illegible]	संत शिरोमणि श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	३३
१२.	श्री हनुमान के सीता-शोध का आध्यात्मिक रहस्य	डा० श्री श्यामलाल जी द्विवेदी, 'आनन्द'	३८
१३.	[illegible]	....	४७
१४.	गीता साधना आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक महोत्सव	रिपोर्ट	३

सिद्ध योग

वर्ष १
अङ्क ४

ध्यातुं ध्यातुं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्,
मत्वा मुक्त्येषु च विचरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तेनाप्युत्पन्नं बहुविधवत् योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

बैसाखी
१९५८

❀ यो गुणेभ्यः परंगतः ❀

न मे मानापमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्॥
द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परंगतः॥

अर्थात्

मुझे मान या अपमान का कोई ख्याल नहीं है और घर एवं परिवार वालों को जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मा में ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीड़ा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालक से ली है। अतः उसी के समान मैं भी मौज से रहता हूँ। इस जगत् में दो ही प्रकार के व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्द में मग्न रहते हैं—एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो।

卐

हमारा विशेष लेख—

ईश्वर-प्रणिधान

[योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज]

योग मार्ग के साधकों के लिए 'योग-दर्शन' के प्रणेता भगवान पतञ्जलि देव ने समाधि-सिद्धि के हेतु जहाँ अन्य अनेक साधनों का वर्णन किया है वहाँ समाधि पाद के २३ वें सूत्र में ईश्वर-प्रणिधान का भी स्पष्टता से उल्लेख किया है। बीसवें सूत्र में जहाँ श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, आदि का आलम्बन समाधि का हेतु बताते हुए इनका परिपालन आवश्यक बतलाया है वहाँ तेईसवें सूत्र में 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' कहकर उन्होंने साधक को निर्देश दिया है कि ईश्वर जो सर्व समर्थ है और जिसे श्रुतियों ने 'पुरुष विशेष' कहकर भी पुकारा है तथा जो क्लेश, कर्म, विपाक, और आशय इन चारों से परे है उसकी शरण में जाना भी फलदायक है। सूत्र का अभिप्राय यही है कि ईश्वर की भक्ति से अथवा सर्वथा आधीन उसकी शरण में जाने से भी समाधि सिद्ध होती है।

योगदर्शन के इसी २३ वें सूत्र :—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा

की व्याख्या करते हुए प्रातःस्मरणीय भगवान व्यासदेव कहते हैं :—

'प्रणिधानाद्भक्ति विशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमस्समाधि लाभः।'

अर्थात् 'भक्ति विशेष से लाया गया ईश्वर उस ध्यान करने वाले योगी पर अनुग्रह करता है और उसे समाधि लाभ होता है।' भक्ति विशेष का अर्थ यहां निरन्तर प्रभु का चिंतन किया गया है ऐसी ही भक्तिको जिसमें अपना मन, बुद्धि और सर्वस्व ईश्वरार्पित कर दिया जाता है, मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा, वाली भावना जब साधकके हृदय में भर जाती है तब इसी अवस्था को ईश्वर-प्रणिधान वाली अवस्था कहा जाता है। ऐसी अवस्था तभी उत्पन्न होती है जब साधक अहंभाव का त्याग कर अपने जीवन

की प्रत्येक क्रिया और उसके फलको ईश्वर के चरणोंमें श्रद्धापूर्वक समर्पित कर देता है। इस प्रणिधान के व्रत को आचरण में तभी ढाला जा सकता है जब साधक अभिमान अहंकार और अस्मिता को त्याग कर 'वासुदेवः सर्वं' की भावना से ओत-प्रोत हो जाता है। ऐसा साधक अपने को सब में और सबको अपने में प्रतिभासित देखने की चेष्टा करता रहता है। उसका जीवन-मन्त्र होता है—'आत्मवत् सर्व भूतेषु' और इसी 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के अपने जीवन-व्रत में वह अपने सर्वेश्वर के जिसे भगवान पतञ्जलि देव ने—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

के रूप में परिभाषित किया है साक्षात् दर्शन करता है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी में उसे अपने भगवान के दर्शन होते हैं।

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' वेद भगवान की यह सूक्ति उसकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होती। इसी दृष्टि से वह भगवान के विश्व रूपका दर्शन करने में सर्वत्र सर्वकाल में सक्षम होता है, और ऐसी दृष्टि अपना लेने पर ही उसकी हृदय तन्त्री से हर समय यह झनकार निकलने लगती है कि :—

हर शै में तू है, हर गुल में तू है
जिधर देखता हूं, उधर तूही तू है।

हिन्दी के एक भक्त कवि ने भी ऐसी ही अवस्था के लिए कहा है 'जित देखौं तित श्याममयी है।' इस प्रकार वेद में अभेद वाली दृष्टि ही ईश्वर—प्रणिधान की परिभाषा है-यही दृष्टि साधक को विवश करती है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि सब करणों, उनसे होने वाले सारे कर्मों और उनके फलों को अर्थात् अपनी सारी बाह्य और आभ्यान्तर जीवन क्रियाओं को तू उस ईश्वर को समर्पण करदे जो सर्वज्ञता का बीज और निरतिशय है। योग योगेश्वर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने भी श्री मद्भगवद्गीता के ९ वें अध्याय में आत्म-समर्पण की व्याख्या में यही तो कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि।
यज्जुहोषि ददासि यत्॥
यत्तपस्यसि कौन्तेय।
तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

अर्थात् तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो तप करता है वह सब मुझ ईश्वर को अर्पण कर दे। क्योंकि ऐसा करने से शुभ और अशुभ कर्मों के बन्धनों से तू मुक्त हो जायगा और तू मुझ को ही प्राप्त होगा। ईश्वर को ही प्राप्त हो जाने का ही अर्थ है, समाधि-सिद्ध हो जाना।

इसलिए भगवान पतञ्जलि देव ने अन्य

अनेक उपायों का समाधि सिद्धि के लिए अवलम्बन लेने का जहाँ जिक्र किया है वहाँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ईश्वर प्रणिधान—सूत्र की रचना भी कर दी।

अतः योग मार्ग के साधकों को जो शीघ्र समाधि लाभ लेने की इच्छा रखते हैं ईश्वर को सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी मानकर उसकी आराधना करते हुए अपना आत्म-समर्पण सर्वथा सर्वविधि उसको ही कर देने का दृढ़ संकल्प लेना चाहिए।

इतिहास में एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण हमें मिलते हैं कि जिन्होंने शुद्ध हृदय से अपने को भगवान को अर्पण कर दिया है उन्होंने भगवान का साक्षात्कार इसी जीवन में कर लिया। इसीलिए तो श्री मद्भगवद्गीता में कहा गया है—

मन्मना भव मद्भक्तो,
मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव—
आत्मानं मत्परायणः।

अर्थात् मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन मेरे निमित्त भजन कर, मुझे नमस्कार कर इस तरह मुझमें परायण होकर मेरे साथ आत्मा का योग करने से तू मुझे प्राप्त कर लेगा। अर्थात् मुक्त हो जायगा।'

यही समाधि-सुख है जिसे ईश्वर प्रणिधान द्वारा प्राप्त करने का परामर्श भगवान पतञ्जलि देव ने अपने उक्त सूत्र द्वारा दिया है।

गुरु वन्दन

बन्दउँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥
सुकृति संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलक गुन गन बस करनी॥
श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिँय होती॥
दलन मोह तम सो सप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं राम चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥
गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन॥

दोहा—जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान॥

—रामचरित मानस

हे विश्वम्भर ! तुम्हारी जय हो !

[समर्थ स्वामी श्री रामदास जी]

सद्गुरु का वर्णन नहीं हो सकता। जिसे माया भी स्पर्श न कर सकती हो, उसका स्वरूप भला मेरे समान अज्ञान को कहां से विदित हो सकता है? जिसके सम्बन्धमें श्रुति "नेति नेति" कहती है (अर्थात् जिसका अन्त श्रुति को भी नहीं मिलता) वहां तक मुझ मूर्ख को मति भला कैसे पहुँच सकती है। वह मेरी समझ के बाहर है, इसलिए उस गुरुदेव के चरणों में मेरा दूर से नमस्कार है। हे गुरुदेव! मुझे वह शक्ति दो जिससे मैं तुम्हारा पार पा सकूँ। मुझे आपके स्तवन की इच्छा थी, पर अब मायाके होने वाला भरोसा नहीं रह गया। अतः हे सद्गुरु स्वामी! तुम जैसे हो, वैसे ही रहो। मैं माया के बलसे उसका स्तवन करना चाहता था, पर अब स्वयं माया ही लज्जित हो गई, तब मैं क्या कर सकता हूं। वास्तविक परमात्मा नहीं मिलता, इसीलिए प्रतिमा स्थापित करनी पड़ती है। बस, इसी प्रकार मैं भी माया के योग से ही सद्गुरु की महिमा का वर्णन करूँगा। जिस प्रकार अपने भाव के अनुसार मन में देवता का ध्यान किया जाता है उसी प्रकार मैं भी सद्गुरुका स्तवन करूँगा। हे सद्गुरुराज! तुम्हारी जय हो। हे विश्वम्भर, विश्वबीज, परमपुरुष, मोक्षध्वज, दीन-बन्धु! तुम्हारी जय हो।

तुम्हारे अभयरूपी हाथों से यह माया उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से अंधकार नष्ट हो जाता है। सूर्य से अंधकार अवश्य नष्ट होता है, पर हमारे स्वामी सद्गुरु की यह बात नहीं है। वे जन्म और मृत्यु तथा अज्ञान का जड़ से ही नाश कर देते हैं। जिस प्रकार सोना कभी लोहा नहीं हो सकता, उसी प्रकार सद्गुरु का भक्त कभी सन्देह में नहीं पड़ सकता। गङ्गा में जो नदी मिलती है, वह भी गंगा ही हो जाती है। फिर नदी किसी प्रकार गंगा से अलग नहीं हो सकती। पर जब तक वह नदी गंगा में नहीं मिलती, तब तक वह "नदी" ही कहलाती है, गंगा नहीं कहलाती। पर शिष्य की यह बात नहीं है। वह पूर्ण रूप से स्वामी ही हो जाता है। पारस किसी पदार्थ को अपने समान नहीं कर सकता, सोना कभी लोहे का रूप नहीं बदल सकता, पर सद्गुरु का भक्त अपने उपदेश से बहुतेरे लोगों को सद्गुरु बना देता है। शिष्यको गुरुत्व प्राप्त हो जाता है, पर पारस से बनाये हुए सोने से कोई चीज

सीमा नहीं बनाई जा सकती। इसलिए पारस के साथ गुरु की उपमा ठीक नहीं बैठती। यदि सागर से उपमा दी जाय तो वह बहुत ही खारा है। यदि क्षीर सागर से उपमा दी जाय तो उसका भी कल्पान्त में नाश हो जाता है। यदि मेरु से उपमा दी जाय तो वह जड़ और कठोर पाषाण है। पर सद्गुरु तो वह नहीं है। वे दीनों के लिए बहुत कोमल हैं। यदि आकाश से उपमा दी जाय तो सद्गुरु का रूप आकाश से भी अधिक सूक्ष्म तथा निर्गुण है। इसलिए यदि सद्गुरु की आकाश से उपमा दी जाय तो वह भी हीन ही ठहरती है। यदि धीरता में पृथ्वी के साथ उपमा दी जाय तो वह भी कल्पान्त में नष्ट हो जायगी। अतः धीरता की उपमा के लिए वसुन्धरा भी हीन ही है। यदि सूर्य से उपमा दें तो उसका प्रकाश ही कितना है! शास्त्र उसकी मर्यादा बतलाते हैं, पर सद्गुरु अमर्याद हैं। इससे सूर्य भी उपमा के योग्य नहीं है। सद्गुरु ज्ञानका बहुत अधिक प्रकाश करने वाले हैं, अतः यदि शेषनाग से उनकी उपमा दी जाय तो वह भी भार ढोने वाले हैं। यदि जल से उपमा दें तो वह भी कालान्तर में सूख जाता है। पर सद्गुरु निश्चल हैं, वे कभी जा नहीं सकते। यदि सद्गुरु की उपमा अमृत से दी जाय तो अमर लोग भी मृत्यु के मार्ग का अवलम्बन करते हैं। पर सद्गुरु की कृपा सचमुच अमर करने वाली है। यदि सद्गुरु को कल्पतरु कहें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सद्गुरु का रूप कल्पनातीत है। तो भला कल्पवृक्ष की उपमा कौन ग्रहण करेगा? जहाँ मन में चिन्ता ही नहीं है, वहाँ चिन्तामणि को भला कौन पूछेगा? जो निष्काम है, उसे कामधेनु के दूध से क्या मतलब! यदि सद्गुरु को लक्ष्मीवान् कहें, तो लक्ष्मी भी नष्ट हो जाने वाली चीज है। और फिर मोक्षलक्ष्मी सदा स्वयं सद्गुरु के द्वार पर खड़ी रहती है। स्वर्गलोक तथा इन्द्र की सम्पत्ति का भी कालान्तर में नाश हो जाता है, पर सद्गुरु की कृपा सदा बनी रहती है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि समय पाकर नष्ट हो जाते हैं, एक सद्गुरुके चरण ही सदा अविनश्वर रहते हैं। फिर भला उनकी उपमा किससे दी जाय? सारी सृष्टि ही नष्ट हो जाती है। उनके सामने पंचभौतिक वस्तुओं का कुछ वश ही नहीं चलता। इसलिए मैं तो सद्गुरु का वर्णन यही कहकर करता हूँ कि सद्गुरु का वर्णन हो ही नहीं सकता। मनकी अन्तरी दशा केवल अन्तर्निष्ठ या अनुभव करने वाले लोग ही जान सकते हैं।

जीवन की पूर्णिमा

[डॉ० श्री मुन्शीराम शर्मा, पी-एच-डी०, कानपुर]

अमावस्या और प्रतिपदा के दिन चन्द्र के दर्शन पृथ्वी के प्राणियों को नहीं होते। द्वितीया के दिन उसकी अत्यन्त क्षीण कला दिखाई देती है। चन्द्रका स्वल्पांश प्रकाशमान, परन्तु अधिकांश अन्धकाराच्छादित रहता है। द्वितीया के पश्चात् चतुर्दशी तक शनैः-शनैः प्रकाश का भाग बढ़ता जाता है और अन्धकार का भाग घटता जाता है। पूर्णिमा के दिन चन्द्र का सम्पूर्ण बिम्ब प्रकाश से ओत-प्रोत हो उठता है और अन्धकार का लवलेश भी उसके अन्दर नहीं रहता। उस दिन चन्द्रमा को देख कर समुद्र का हृदय बल्लियों उछलने लगता है, चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है, औषधियों के अङ्ग-अङ्ग रससिक्त हो जाते हैं और निखिल प्राणी-जगत् अपार आह्लाद का अनुभव करता है।

पूर्णिमा का नाम पूर्णिमा चन्द्र की समस्त कलाओं के परिपूर्ण विकास के कारण ही पड़ा है। उस दिन चन्द्रमा अन्धकार से एकान्त वियुक्त और प्रकाश से एकान्त संयुक्त होता है। उस दिन उसकी दुग्धधवल, आनन्दमयी तथा अमृत-स्यन्दिनी छटा देखते ही बनती है। क्या मेरे जीवन में भी कभी ऐसी ही प्रकाशमयी पूर्णिमा दिखाई देगी? मेरे जीवन की पूर्णिमा कब होगी? मेरा जीवन अन्धकार से शून्य तथा प्रकाश से परिपूर्ण किस दिन होगा?

जीवन में अन्धकार का भाग अविवेक और अज्ञान की अवस्था है। जैसे-जैसे ज्ञानार्जन द्वारा अविवेक का अंश कम होता जाता है, वैसे ही वैसे जीवन प्रकाशित होता जाता है। पर, ज्ञानार्जन खेल नहीं है। इसलिए घोर तपश्चर्या करनी पड़ती है।

ज्ञानार्जन कुछ सूचनाओं को एकत्रित करने का नाम नहीं है। सूचनाओं का भार-वहन करने वाले गर्दभ रूपी मानव तो यहाँ अनेक दिखाई पड़ जायेंगे, पर ज्ञानी शब्द को सार्थक सिद्ध करने वाले मानव विरले ही मिलेंगे। सुकरात यूनान के अन्दर अपने समय का अद्वितीय विद्वान था, पर जब अन्य मानव उसे विद्वान, ज्ञानी या ऋषि कहकर पुकारते थे, तो उसे आश्चर्य होता था। उसे अपनी ज्ञान-सीमा का पता था और अपने अज्ञान का भी ज्ञान था। एक दिन वह ज्ञान की परख करने के लिए यूनान के तथाकथित ज्ञानियों, अपने

विषय के पारंगत अध्यापकों के पास पहुँचा। उनसे वार्तालाप करके वह इस परिणाम पर पहुँचा कि ये अध्यापक जो अपने-अपने विषय के विद्वान कहे जाते हैं, कितने अज्ञान में हैं। ये ज्ञानी बनने का ढोंग करते हैं, पर, हैं नितान्त अज्ञानी। ये जिस बात को नहीं जानते, उसके जानने का भी दम भरते हैं। इनमें और मुझमें बस एक ही अन्तर है, ये अपने अज्ञान को भी ज्ञान समझते हैं, पर, मुझे अपने अज्ञान का ज्ञान है। ये उस बात को भी कहते हैं, जिसे नहीं जानते। मैं उतना ही कहता हूँ, जितना जान पाया हूँ और यह भी मुझे समझ है कि ज्ञान के अनेक स्तर हैं, पर ज्ञान का अधिकांश भाग अभी जानने को पड़ा है जिसे मैं अभी तक जान नहीं पाया।

भर्तृहरि का निम्नांकित श्लोक इस विषय में अधिक प्रसिद्ध है :—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप
इव मदान्धः समभवम् ।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्य-
भवदव लिप्तं मम मनः ॥
यदा किञ्चित्-किञ्चित्,
बुधजन सकाशादवगतम् ।
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर,
इव मदो मे व्यपगतः ॥

'जब मुझे कुछ भी नहीं आता था, तब मतवाले हाथी के समान मैं अपने ज्ञान के नशे में चूर रहता था और अपने को सर्वज्ञ समझता था। पर, जब मैंने ज्ञानियों का सम्पर्क किया और उस सम्पर्क से कुछ-कुछ बोध होने लगा, तब समझमें आया कि मैं कितना मूर्ख हूँ। फिर जैसे ज्वर उतर जाता है, वैसे ही ज्ञानी बनने का मेरा सारा नशा उतर गया।'

ज्ञान के क्षेत्र में भी कई स्तर हो सकते हैं। कौन मानव किस स्तर पर है, इसका ज्ञान उसे स्वयं होना चाहिए। प्लेटो ने ज्ञान के चार प्रकारों का वर्णन किया है। पहले प्रकार का ज्ञान आभास मात्र होता है। वह ज्ञान नहीं, ज्ञान की परछाई है। वास्तविक ज्ञान उससे कोसों दूर है। दूसरे प्रकार का ज्ञान किसी वस्तु के सम्बन्ध में प्रत्येक मानव के अपने-अपने दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। मैं एक वस्तु को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता हूँ। दूसरा व्यक्ति, आवश्यक नहीं कि उसी दृष्टिकोण से देखे। किसी वस्तु का जो रंगरूप मेरे सामने आता है, दूसरे के सामने सम्भव है, उससे भिन्न रंगरूप आवे। ये दोनों प्रकार के ज्ञान भिन्न-भिन्न मानवों की भिन्न-भिन्न मान्यतायें कहे जा सकते हैं, इन्हें ज्ञान का रूप नहीं दिया जा सकता। तीसरे प्रकार का ज्ञान एक तात्विक ज्ञान है। वह सम्मतियों से ऊपर है और सामान्य ज्ञान कहा जा सकता है। 'अमुक वस्तु घड़ी है क्योंकि उसी प्रकार की अनेक घड़ियाँ मैंने देखी हैं। यह 'फाउन्टेनपेन' है क्योंकि इसी तरह के अनेक फाउन्टेनपेन

होती है। यह सामान्य ज्ञान है, परन्तु इस ज्ञान में एक वस्तु अपनी अन्य समानधर्मा वस्तुओं की प्रतिनिधि बनकर उन वस्तुओं का एक सामान्य ज्ञान कराती है। अतः इस ज्ञान में एक आश्रय रहता है। चौथे प्रकार के ज्ञान में यह आश्रय भी नहीं रहता। वहाँ कोई वस्तु प्रतिनिधि बनकर नहीं आती। जब मैं कहता हूँ कि दो और दो मिलाकर चार होते हैं तो यह ज्ञान सर्वोच्च कोटि का है। क्योंकि इसमें किसी वस्तु के आलम्बन की आवश्यकता नहीं है। इस ज्ञान को साक्षात् ज्ञान भी कहते हैं। कठोपनिषद् के ऋषि ने प्लेटो से बहुत पहले ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ-कुछ ऐसी ही बात लिखी थी। इसके अनुसार कुछ मानव, दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब की भाँति अपनी ही परछाईं अपने में देखा करते हैं। कुछ मानव ऐसे हैं, जो जागरण की अवस्था में भी स्वप्न देखा करते हैं, आदर्शों के पीछे भागते हैं। कुछ मानव जल की भाँति अपने अन्दर पड़े हुए प्रतिबिम्ब रूपी प्रभावों और संस्कारों को सुन्दर रूप प्रदान करते हैं और कुछ मानव ऐसे हैं जो छाया और आतप की भाँति वस्तुओं का स्पष्ट प्रत्यक्ष किया करते हैं। पहली कोटि के मानव मनुष्य लोक के निवासी हैं, मानवता के अत्यन्त सामान्य स्तर से सम्बन्ध रखते हैं। द्वितीय प्रकार के मानव पितृलोक के निवासी हैं। वे एक आदर्श के पीछे चलने वाले हैं और उसकी प्राप्ति में यदि आवश्यकता पड़े, तो अपने जीवन की बलि भी चढ़ा देते हैं। तृतीय कोटि के मानव गन्धर्व लोक के वासी हैं, सुन्दर की साधना करने वाले और वाणी पर आधिपत्य रखने वाले हैं। इनमें संगीतज्ञ तथा कवियों की गणना होती है। चतुर्थ कोटि ब्रह्म लोक के निवासियों अर्थात् ज्ञान के क्षेत्र में विचरण करने वाले दार्शनिकों की है, जो सिद्धासन के समय ज्ञान की साक्षात् उपलब्धि करते हैं।

ज्ञान को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखना प्रकाश में आना है। इस प्रकाश के समय समस्त अज्ञान जन्य हीन ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं। मानव विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में सत् को सत् और असत् को असत् रूप में अनुभव करता है या प्रत्यक्ष देखता है। जो मानव प्रयत्न करता हुआ इस अवस्था को प्राप्त हो गया, वह धन्य है। उसके जीवन की पूर्णिमा उसके अन्दर तो खिल ही उठती है, अपने चतुर्दिक भी ज्ञान-ज्योति की किरणें विकीर्ण करने लगती हैं।

यजुर्वेद के ३२वें अध्याय में इस अवस्था का वर्णन निम्नांकित मन्त्रों द्वारा किया गया है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्,
परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्य,
आत्मना आत्मानमभि संविवेश।
परिद्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परि,
लोकान् परि दिशः परिस्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य,
तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्॥

जीव जब भिन्न-भिन्न योनियों में घूमता हुआ भिन्न-भिन्न लोकों, दिशाओं एवं प्रदिशाओं को देखता हुआ, ऋत की प्रथमजा तक पहुँचता है, तभी वह इसका आश्रय लेकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है और आत्म ज्ञान द्वारा ही परमात्मा में प्रवेश करता है।

द्यावा-पृथिवी, समस्त भुवन, दिशा और स्वर्गलोक को सब ओर समझकर वह जीव ही ऋत के फैले हुए तन्तु को खोल डालता है। इसके पश्चात् वह प्रभु के दर्शन करता है।

इन मंत्रों में ऋत की प्रथमजा तक पहुँचना आवश्यक माना गया है। इसके बिना जीवात्मा को अपने अस्तित्व का साक्षात् ज्ञान नहीं हो पाता। इसके पूर्व तो वह तमाम लोकों और योनियों में आवागमन के क्लेश-जाल को भोगता हुआ, अपने को प्रकृति के साथ एक समझा करता है। जगत और धर्म तन्तु सभी मात्र ऋत तत्त्व का ही फैलाव है। आत्मा का अपना स्वरूप तो चिति का है, चैतन्य का है। ऋत की प्रथमजा का आश्रय लेकर ही जीवात्मा को इसका ज्ञान होता है। ऋत की प्रथमजा क्या है? ब्रह्माण्ड में वह व्यापक जीवतत्त्व है और जिस को हम धी भी कहते हैं। धी के पर्यायवाची शब्द तो अनेक हैं, पर, वे सब एक ही अवस्था का द्योतन नहीं करते। बुद्धि, मेधा, प्रज्ञा तीनों हमें तीन स्तरों का बोध कराते हैं। बुद्धि श्रवण से सम्बन्ध रखती है, मेधा मनन से और प्रज्ञा निदिध्यासन से। सामान्य रूप से जो कुछ ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है (सुनने, देखने, चखने, सूँघने, छूने आदि द्वारा), वह मन की कोठरी में एकत्र हो जाता है। जब हम एकत्रित सामिग्री पर स्वयं चिन्तन करते हैं, मनन करते हैं, तो वह परिष्कृत, आत्मसात् होकर हमारी बुद्धि का अंग बन जाता है, हमारे अन्दर धारण हो जाता है। इस स्थिति को मेधा (मे=मेरे अन्दर जो धा=धारित हो गया) कहते हैं। यह धारण किया हुआ या पचाया हुआ ज्ञान जब निदिध्यासन द्वारा साक्षात्कार की अवस्था को प्राप्त करता है, तो मेधा से भी ऊपर प्रज्ञा कहलाता है। प्रज्ञा सहज प्रकाश की अवस्था है। किसी वस्तु का ज्ञान इसी अवस्था में हस्तामलकवत ज्ञान का रूप धारण करता है। इसी अवस्था में जीव अपने को ऋत के फैले हुए तन्तु से, प्रकृति और आत्मतत्त्व उसे पृथक् पृथक् दिखाई पड़ने लगते हैं। आत्म-ज्ञान के पश्चात् अगला पड़ाव परमात्म-ज्ञान का ही है। अपने स्वरूप में अवस्थित होकर जीव एक ओर प्रकृति का

परित्याग करता है और दूसरी ओर परमात्मा का दर्शन करता है।

श्रद्धा का सम्बल लेकर जीव छन्दों, ऋचाओं तथा स्वर-संसार की मूलभूत ध्वनियों में प्रवेश करता है। ऋचाओं का ज्ञान उसे ब्रह्माण्ड के मूल में निहित ऋत की प्रथमजा तक पहुँचाता है। ऋतकी प्रथमजा का आश्रय आत्मज्ञान कराता है और आत्मज्ञान परमात्म-तत्त्व का ज्ञान कराता है। ऋत की प्रथमजा पर पहुँचते ही उसे सत् का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है। सत् के प्रकाश से श्रेष्ठतर आत्म-प्रकाश है और सबसे श्रेष्ठ परमात्म-प्रकाश।

अथर्ववेद के नीचे लिखे मंत्र में इस प्रकाश का विशद् वर्णन उपलब्ध होता है:—

ईजानश्चित मारुक्षदग्निं नाकस्य,
पृष्ठाद् दिव मुत्पतिष्यन्।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान्,
स्वर्गः पंथा सुकृते देवयानः॥

त्याग और तपस्या के साथ यज्ञ करता हुआ साधक जब चैतन्यकी अग्नि पर आरोहण करता है, प्रमाद, राग-द्वेष के तमोगुण तथा रजोगुण पर विजय प्राप्त करता हुआ जब सत के प्रकाशमें चेतनता की झलक देखता है, तभी वह नाक की पीठ पर बैठकर दिव की ओर, नाक से भी ऊपर की ओर उठता है। उस समय उसके समक्ष नभ में ज्योति जगमगाती दिखाई पड़ती है। यही देवयान है जो उस सुकृती को आनन्द की ओर ले जाता है।

नाक क्या है? निरुक्तिद्वारा क सुख है, जो न-क दुःख है और जो न+अ+क है अर्थात् दुःख रहित अवस्था है वही नाक है। संसार सुख और दुःख दोनों का सम्मिश्रण है। जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा भी होगा। दोनों का युग्म है। सुख-दुःख दोनों साथ-साथ रहते हैं। नाक संसार की सुख-दुःखमयी अवस्था से ऊपर की अवस्था ही तो है। देवयान-पथ का पथिक, कर्ममार्ग से ऊपर उठकर ज्ञानमार्ग का आश्रय लेने वाला यात्री, इस द्यौ के प्रकाश का अनुभव करता है और आत्मानन्द ही परमात्मानन्द में मग्न करने वाला है। जीवन की पूर्णिमा यही है। परमसत्त्व सोम की आनन्द-दायिनी, अमृत-स्यन्दिनी, रसमयी, अपरोक्ष-ज्ञानमयी अद्वैत अवस्था इसीका नाम है जिसमें तारे नहीं, एक चन्द्र चमकता है, विविध सुखों की टिमटिमाती ज्योति नहीं, आनन्द अखण्ड आलोक जगमगाता है, इन्द्रिय-देवों का वैभव-विलास नहीं एक आत्म-प्रकाश दिखाई देता है।

प्रकृति में पूर्णिमा का चन्द्र चमकता है। मेरे जीवन की पूर्णिमा का वह चन्द्र कब चमकेगा? इस प्रश्न का उत्तर हमें अपनी जीवन-चर्या में देना होगा और अवकाश प्राप्त करने पर अपने से पूछना होगा कि हम किस दिशा में कितना आगे बढ़ सके हैं।

सत्यं·शिवं·सुन्दरम्

गो-धूलि की परमपावन वेला में अवधूत दत्तात्रेय एक दिन एक ग्राम में किसी एक सद्गृहस्थ के यहाँ जा पहुँचे और रात्रि-विश्राम के विचार से अपना आसन उन्होंने वहीं दरवाजे के बाहर चबूतरे पर जमा लिया।

इनके ठहरने के थोड़ी ही देर बाद उसी गृहस्थ के यहाँ कुछ व्यक्ति और आये और वे भी वहीं ठहर गये। इन आगन्तुकों को घर वालों से एक लड़की के विवाह के सम्बन्ध में आवश्यक बातें करनी थीं। किन्तु संयोग से सभी घर वाले, जिनसे इन्हें बातें करनी थीं, कार्यवशात् बाहर चले गये थे—घर में केवल वही लड़की थी, जिसके वरण की वार्ता करने वह आये थे।

संयोगवश लड़की को ही सबके आतिथ्य की व्यवस्था करनी पड़ी। घर में खाने-खिलाने के लिए कुछ धान पड़े थे—उन्हीं को कूटकर, चावल निकालकर—और बनाकर सबको खिला देने का उसने निश्चय किया। धानों को ओखल में डालकर जब वह कूटने लगी तो उसके हाथ की चूड़ियाँ खनकने लगीं। खनकने का शब्द मेहमानों के कानों में न पड़े इसलिए उसने अपने हाथों में केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं, शेष सभी चूड़ियाँ उतार कर अलग कर दीं।

लेकिन वे दो-दो चूड़ियाँ भी आपस में टकराकर खनक रही हैं, यह देखकर लड़की ने एक-एक चूड़ी और उतार दी। अब केवल एक-एक चूड़ी हाथों में रह जाने से उनका खनखनाना बन्द हो गया और उसने इस प्रकार निःशब्द वातावरण में धानों से चावल निकालकर मेहमानों का यथा-योग्य सत्कार किया।

अवधूत योगी दत्तात्रेय ने लड़की के इस चातुर्य को सात्विक दृष्टि से देखा और उसे नमन करते हुए बोले—देवि! तुम्हें मैं अपने गुरु रूप में वरण करता हूँ। तुम्हारी चूड़ियों के एक-एक की संख्या में रह जाने की क्रिया से मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि एकाकी जीवन ही मुनियों के लिए शान्तिप्रद हो सकता है। अनेक के साथ रहने में तो खटपट होती ही है, दो के साथ रहने पर भी कलह की सम्भावना रहती है। अतः अकेले रहकर ही साधक अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल होता है। —वनवासी

वेदों एवं उपनिषदों में योगचर्या

[श्री केशव उपाध्याय, अवर-अभियन्ता]

मानव मन में चाहे जिस भी प्रक्रिया द्वारा जब एकाग्रता धर्म का उदय होने लगता है तो मन शक्तिपुंज एवं एक देशीय होकर जिस वस्तु को ग्रहण करता है उसमें उसके स्थूल रूप से लेकर उसके सूक्ष्म जगत में घटने वाली सारी घटनाओं का साक्षात्कार कर लेता है। चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध समाधि की पराकाष्ठा का ही द्योतक है। अतः प्राचीन ऋषि-मुनियों ने वैदिक ऋचाओं का साक्षात्कार योग-विधि में कर-वेद की रचना की है। चित्त-वृत्तियों का निरोध, मन की लयता या प्राण की लयता से सम्भावित है। वेदों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में शरीर की संरचना के दृष्टिकोण से प्राण-नियंत्रण द्वारा योगसाधना अति अत्यधिक सहज रही होगी। ऐतरेयआरण्यक के प्राण विद्या विषयक अध्यायों में ऋग्वेद के कई मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। यहाँ प्राण को समस्त विश्व में व्याप्त बताया गया है। दीर्घतमा ऋषि निम्न मन्त्र के द्रष्टा हैं और वे कहते हैं कि मैंने प्राण का साक्षात्कार किया है। वह मन्त्र इस प्रकार से है :—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानम्,
आ च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान,
आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

अर्थात् यह प्राण सब इन्द्रियों का रक्षक है, यह कभी नष्ट नहीं होने वाला है, यह भिन्न-भिन्न नाड़ियों द्वारा जाता और आता है। मुख और नासिका द्वारा प्रतिपल शरीर में आना-जाना लगा हुआ है। यह प्राण शरीर अध्यात्म रूप से वायु रूप में है, परन्तु अधिदैव रूप में सूर्य है। आगे प्राण अमृतरूप है, इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए ऋग्वेद में यह मन्त्र दिया गया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो-
ऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता,
न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥

फिर आगे चलकर प्राण की ध्यानविधि प्राण के गुणों का साकार वर्णन करते हुए किया गया है। प्राण ही ऋषि रूप है। ऋग्वेदों के मन्त्रों के द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं।

इन सब ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिए। क्योंकि प्राण ही मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के आकार में व्याप्त है।

वेदों के पश्चात् उपनिषदों में योग-साधना का स्वरूप विस्तृत, स्पष्ट एवं भेद-प्रभेद से सविस्तार किया गया है। उपनिषदों में सर्वत्र योग का निर्देश है, परन्तु कुछ उपनिषद् योग-चर्चा प्रधान ही है। इन उपनिषदों का नाम क्रमशः निम्न प्रकार है—

अद्वयतारकोपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, बिन्दूपनिषद्, क्षुरिकोपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, दर्शनोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, पाशुपतब्रह्मोपनिषद्, ब्रह्मविद्योपनिषद्, मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, महावाक्योपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, वराहोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, हंसोपनिषद्, योगराजोपनिषद्।

बहुलायत से इन सभी ग्रन्थों में षडंगयोग, अष्टांगयोग, भावयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कुण्डलिनीयोग इत्यादि-इत्यादि का सविस्तार वर्णन किया गया है। इन उपनिषदों के अवलोकन से मूलतः यम, नियम, आसन एवं प्राणायाम के प्रकार—भेद भिन्न-भिन्न रूप से वर्णित किये गये हैं। अमृतनादोपनिषद् में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि षडंगयोग माना गया है। तर्क का लक्षण यह है—

आगमस्या विरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते।

अर्थात् आगम से अविरुद्ध अनुमान तर्क कहा जाता है। अमृतबिन्दुपनिषद् में मन को ही निर्विषय बनाने का ही नाम मोक्ष बताया गया है। क्षुरिकोपनिषद् में षडंगयोग का ही वर्णन है, परन्तु इसमें आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि संक्षेप से कहे गये हैं। तेजोबिन्दुपनिषद् में योग के पंद्रह अङ्ग बतलाये गये हैं। वे अङ्ग—

यमो हि नियमस्त्यागो,
मौनं देशश्चकालतः।
आसनं मूलबन्धश्च देह-
साम्यं च दृक्स्थितिः॥
प्राणसंयमनं चैव
प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च,
प्रोक्तान्यंगानि वै क्रमात्॥

अर्थात् यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राण-संयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि ये अंग क्रम से बताये हैं। इसमें वेदान्त प्रतिपाद्यतत् एवं त्वम् पदार्थ के अभेद का निरूपण किया गया है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में योग दो प्रकार का—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग वर्णित किया गया है वर्णित कर्मों में इस बुद्धि का होना कि यह कर्तव्य कर्म है।

मन का ऐसा निरोध-बन्धन तथा ध्येय अर्थ में चित्त का सतत् बहु-रहना ज्ञानयोग बताया गया है। इसके अनन्तर अष्टांगयोग का वर्णन किया गया है। यहाँ बताया गया है कि अष्टांग-योग भगवान् पतंजलि के निर्देशित अष्टांगयोग से मिलता जुलता ही है। कैवल्य स्थिति की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—

> अहमेव परब्रह्म
> ब्रह्माहमिति संस्थितिः।
> समाधिः स तु विज्ञेयः
> सर्ववृत्ति विवर्जितः॥
> सुषुप्तिवद् यश्चरति,
> स्वभावपरिनिश्चलः।
> निर्वाणपदमाश्रित्य,
> योगी कैवल्यमश्नुते।

अर्थात् मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी सम्यक् स्थिति समाधि जानो। उसमें और कोई भी वृत्ति नहीं होती तथा ऐसी अवस्था का व्यक्ति सोया हुआ सा चलता है, स्वभाव से ही जो सर्वथा निश्चल है ऐसा योगी निर्वाण पद का आश्रय कर कैवल्य प्राप्त करता है। दर्शनोपनिषद् में भगवान् दत्तात्रेय ने अष्टांग योग का विधिपूर्वक निर्देश अपने एक शिष्य को किया है। ध्यानबिन्दूपनिषद् में षडंगयोग की साधना द्वारा नादानुसंधान की प्रक्रिया से आत्मोपलब्धि बतलायी गयी है। नादबिन्दोपनिषद् में प्रणवोपासना तथा नादानुसंधान का ही वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् पाशुपतब्रह्मोपनिषद् एवं ब्रह्मविद्योपनिषद् में ज्ञान योग एवं नादयोग का वर्णन मिलता है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में अष्टांग योग तथा तारकयोग का वर्णन किया गया है। महावाक्योपनिषद् में हंस-विद्या का वर्णन किया गया है—

> विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम्। असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति।

'काण्डान्तर में जो ज्योतिर्मण्डल स्वरूप आदित्य है वही विद्या है, अन्य कोई नहीं। 'असौ आदित्यो ब्रह्म' यहाँ आदित्य ब्रह्म है, जिसका 'हंसः सोऽहम्' इस अजपा मन्त्र से निर्देश किया जाता है। प्राणापान की अनुलोम और प्रतिलोम की गति से यह विद्या जानी जाती है। दीर्घकाल के अभ्यास से यह विद्या जानकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्म का ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।'

योगकुण्डल्युपनिषद् में कुण्डलिनी और एवं खेचरी इत्यादि मुद्राओं की बात कही गई

है। योग-कुण्डल्युपनिषद् में अष्टांग योग का ही वर्णन किया गया है। योगतत्त्वोपनिषद् में मन्त्र योग, हठयोग एवं राजयोग का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध अष्टांग योग का ही सविस्तार वर्णन किया गया है। योग शिखोपनिषद् में योग तत्त्वोपनिषद् में कहे गये विषयों का सविस्तार यहाँ वर्णन किया गया है। कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं यथा मन्त्र योग हठ-योग एवं राजयोग का स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया गया है। इन्हें यथा क्रम चार भूमिकाओं का स्वरूप प्रदान किया गया है जिन्हें मिला कर महायोग के नाम से माना जाता है देखें—

मन्त्रोलयो हठो राजः
योगान्ता भूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं,
महायोगोऽभिधीयते॥

वराहोपनिषद् में लय, मन्त्र तथा हठयोग का वर्णन किया गया है। शाण्डिल्योपनिषद् में अष्टांगयोग संक्षेप में वर्णित किया गया है। हंसोपनिषद् में संक्षेप में नादानुसंधान, अजपाजप एवं हंस विद्या का वर्णन किया गया है। योगराजोपनिषद् ऊपर के सभी उपनिषदों का सारांश है।

इस प्रकार के वेदों एवं उपनिषदों में महाविद्या योग का सविस्तार वर्णन मिलता है। वैदिक धर्म प्राण विद्या को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं। योग में प्राणों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्राणायाम से ही सम्बन्धित है। सभी उपनिषद् योग के दो ही उपाय बताते हैं मनोजय एवं प्राणजय। मनोजय वासनाओं के क्षीण होने से होता है किन्तु प्राणायाम द्वारा प्राण जय से मनोजयता स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसलिए योग में प्राणायाम का इतना महत्त्व है। कठोपनिषद् में कहा गया है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नय-
त्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं
विश्वे देवा उपासते॥

अर्थात् जो प्राण को ऊपर भेजता है और अपान को नीचे फेंकता है उस मध्य में रहने वाले वामन को विश्वे देव भजते हैं।

इस प्रकार से शाश्वत अनादि काल से हुई वेदों की रचना से एवं उपनिषदों से योग की परम महत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर हो उठती है। योग मानव मन का महत्तम विज्ञान जहाँ है एक तरफ, वहाँ समाधि स्वरूप में वह स्वयं ब्रह्मतत्व एवं आत्मतत्व का द्योतक है। इसकी ही साधना से युग-युग में मानव समाज को आध्यात्मिक विकास का श्रेय प्राप्त होता रहा है।

गीता-महिमा

[श्री बलवन्त सिंह सैनी, सफीदों]

पुस्तकें तो संसार में बहुत हैं जिनकी आयु दो चार दिन या वर्ष है। कितनी ही पुस्तकों का महत्व भी दो सौ वर्षों के बाद समाप्त हो जाता है, परन्तु गीता की गणना ऐसी पुस्तकों में नहीं है। उसकी आयु अनन्त है, उपयोगिता असीम है तथा उसका जीवन अपरिमित है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह समय कब आयेगा जब समस्त मानव जाति उसके सन्देश को ग्रहण करके कल्याणमयः मार्ग का अनुसरण करके गीता के सन्देश को पूर्ण करेगी। कोई भी धर्म या जाति गीता में कहे गये उपदेशों की आलोचना करने का सामर्थ्य नहीं रखता। अन्य धर्मों का धर्म ग्रन्थ पढ़कर भी हमें यही अनुभव होता है कि ये सभी गीता के उपदेशों पर आधारित हैं।

गीता का उपदेश भगवान कृष्ण ने भारत भूमि पर दिया परन्तु यह तात्पर्य कदापि नहीं कि यह भारतवासियों के लिए ही है। अखिल आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश समस्त विश्व तथा मानव जाति के लिए है तथा मानवता उसी दिन की प्रतीक्षा करती हुई क्रमशः अपने लम्बे पथ पर मन्द किन्तु निश्चित गति से चली आ रही है। जब मनुष्य अपने जीवन को अपना भाग्य बना लेगा तथा अपने भीतर के वासना-लोलुप का अन्त कर डालेगा।

आपने भी प्रायः देखा होगा कि जब कभी हम अपनी निजी समस्यायें या कठिनाइयां चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हों पुण्य पाद आनन्दकन्द सद्गुरुदेव के सामने रखते हैं तो वह करुणानिधि परम कल्याण पथ तुरन्त ही गीता के किसी उपयुक्त श्लोक का उच्चारण करके हमारी शंकाओं का समाधान कर देते हैं। इससे यह प्रमाण मिलता है तथा पाठक गण स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि गीता अमृत का वह महान सिन्धु है जिसकी एक बूंद में भी ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को क्षण भंगुर संसार का विस्मरण कराकर असीम आनन्द में निमग्न कर सकती है। गीता के उपदेश तथा आदर्शों पर चल कर समस्त मानव जाति में प्रेम की लहर को हम उत्पन्न कर सकते हैं, जिसके लिए हमारे सद्गुरुदेव परब्रह्म होते हुए भी तथा जगत नियंता

होकर भी सर्वत्र प्रयत्नशील रहते हैं। जब कभी ऐसी महान् आत्मा अनन्त योगीश्वर किसी कार्य के लिए अग्रसर होते हैं तो स्वाभाविक रूप से ही बहुत तीव्र प्रभाव पड़ा करता है।

श्री मेहेर बाबा जी ने भी गीता के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि आध्यात्मिक दृष्टि से सारी मानव जाति पर गीताका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। भगवान् श्रीकृष्ण का हिन्दू जाति में जन्म होने के कारण गीता को प्रायः हिन्दुओं का धर्म-ग्रन्थ समझते हैं, परन्तु वास्तव में यह धर्म ग्रन्थ समस्त मानव जाति का है। इसके अन्दर जो उपदेश दिया गया है वह केवल भारतवर्ष के लिए ही नहीं अपितु सारे जगत के लिए है। मनुष्य जाति इसके उपदेशों के अनुसार आचरण करे केवल इतनी ही देर है, फिर तो सारे मानव समाज में बन्धुत्व (प्रेम) की स्थापना आवश्यक रूप से अपने आप हो जायेगी।

गीता महिमा का गुण गान लोकमान्य तिलक ने इस प्रकार किया है :—"श्री गीता हमारे धर्म ग्रन्थों में एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड-ज्ञान सहित आत्म विद्या के गूढ़ और पवित्र तत्त्वों को थोड़े में और स्पष्ट रीति से समझा देने वाला उन्हीं तत्त्वों के आधार पर मनुष्यमात्र के पुरुषार्थ की अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्था की पहचान करा देने वाला भक्ति और ज्ञानका मेल कराके उन दोनोंका शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने वाला और इसके द्वारा संसार से दुःखित मन को शान्ति देकर उसे निष्काम कर्त्तव्य के आचरण में लगाने वाला गीता के समान बाल-बोध ग्रन्थ में संस्कृत की तो बात ही क्या समस्त संसार के साहित्य में नहीं मिल सकता। इसमें आत्म-ज्ञान के अनेक गूढ़ सिद्धान्त ऐसी प्रासादिक भाषा में लिखे गये हैं कि वे बच्चों और बूढ़ों को एक समान सुगम हैं। इसमें ज्ञानयुक्त भक्ति रस भरा पड़ा है, जिस ग्रन्थ में समस्त वैदिक-धर्म का सार स्वयं श्रीकृष्ण की वाणी से संग्रहीत किया गया है उसकी योग्यता का वर्णन कैसे किया जावे।"

यह निवेदन अवश्य करता हूं कि परम कल्याण धन सद्गुरुदेव से प्रार्थना करें कि वे हमें अपने अपने वरद्-हस्त द्वारा आशीर्वाद दें कि उसके बालक-गीता के महान् आदर्शों को अपनाकर कल्याणमयी मार्ग की ओर प्रगतिशील होते रहें।

श्री शंकर शतनामक स्तोत्र

[श्री जगदीशशरण शास्त्री, बिलगइयाँ 'मधुप' दतिया]

जय गुरु जय गणपति गिरा, तुमको करूँ प्रणाम।
शिवा-शंभु की प्रेरणा, लिखूँ परम शत नाम॥
मार्ग शीर्ष सित द्वादशी, जीव-विजय शुभ नाम।
दो हजार इकत्तीस शुभ, रचना करी ललाम॥

बोले श्री शिव उमा से, सुनहु प्रिया चित लाय,
मेरी स्तुति पाठ से, कार्य सिद्ध हो जाय।
पीठादिक संयुक्त कर, ध्यानादिक कर न्यास,
देव बीज संयुक्त कर, अद्भुत नाम प्रकाश॥

नारद ऋषि शतनाम के, छन्द अनुष्टुप जान,
और सदा शिव देवता, पावन किये बखान।
महा बीज षट अक्षरी, जो दाता फल चार,
सभी कामना सिद्ध हित, कर विनियोग विचार॥

महा काल युत सनंदा, महा शून्य घन वास,
लिंगाकार स्वरूप में, करें देह में वास।
मूलाधार स्वयम्भु कुण्डली, शक्ति सुसंयुत,
स्वाधिष्ठान सुयोग, लोक पालक श्री अच्युत॥

महाधव "मणिपूर", सर्व संहारक कारक,
और "अनाहद" बीज, दैवदैहिक दुःख हारक।
"विशुद्धाख्य" श्री षोडशार में, बसूँ सदा शिव रूप,
"आज्ञा चक्र" बीच बन रहता चिदानन्द स्वरूप॥

"सहस्रार" के महापद्म में, बन त्रिकोण निराकार में,
महेश्वरी सुन बिन्दुरूप में, कहलाता परमेश्वर मैं।
इच्छा के अनुरूप क्रिया में, अपने नाना रूप रचूँ,
कल्प अन्त में ज्योति रूप में भक्तों के सब रोग हरूँ॥

मेरे प्रिय कैलाश धाम में, वर की संज्ञा मुझे मिली,
पार्वती के प्राण मुक्तलक हिमगिरि में मम कली खिली।
काशी में विश्वेश, और बैठे वालेश्वर,
शम्भुनाथ औ चन्द्र गुप्तेश्वर, आदि नाथ भव भयहर ॥

सिन्धु तीर जो काम रूप में, बैठे थी वृषभध्वज,
पशुपति औ नेपाल विराजे, केदारे परमेश्वर।
हिंगुलाज में कृपानाथ प्रिय, कनखल में दीपक,
श्री हर नाम द्वारका में है, पुष्कर में प्रमथेश्वर ॥

कुरुक्षेत्र में पाण्डवेश प्रिय, वृन्दावन में केशव,
गोकुल में मैं गोपीपूजित, कहलाऊँ गोपेश्वर।
मथुरा में हूँ भूतनाथ मैं मिथिला बीच धनुर्धर,
अवध धाम में कृत्तिवास हूँ, काश्मीर कपिलेश्वर।

काञ्ची नगर बीच में मेरा, नाम हुआ त्रिपुरेश्वर,
चित्रकूट में चन्द्रचूड़ बन, विन्ध्याचल योगीन्द्र।
बाण लिंग, नर्मदा क्षेत्र में, औ प्रभास मृत मुख,
भोजपुरी में भोजनाथ हूँ, गया क्षेत्र में गदा धरम।

झारखण्ड में बन कर बैठे, वैद्यनाथ अलकेश्वर,
वीरभूमि में सिद्धनाथ औ, राढ़ क्षेत्र तारक ईश्वर।
हे देवेशि ! नदी नदी पर हूँ, व पाण्डेश्वर रत्नाकर,
औ गंगा के तीर कहाऊँ, कपिल जहाँ कपिलेश्वर।

भद्रेश्वर देवेशि ! तथा, मैं कल्याणेश्वर,
कालीघाट नकुलेश, औ बूढ़े हाटक ईश्वर।
कौन बधू पुर में भद्राणि हूँ ! मेरा नाम कपेश्वर,
उत्कल औ विमला सुखांत में, जगन्नाथ कलियुग में।

नीलाचल बन बीच कहाऊँ, मैं भुवनेश्वर,
सेतुबन्ध के तीर, नाम, मेरा भुवनेश्वर।
औ लंका में रावणेश प्रिय, रजताचल धनदेश्वर,
औ शैल पर सदा विराजूँ, बन कर लक्ष्मीकान्त।

त्र्यम्बक नाम गोमती तट पर, गोकर्णे मुक्तिलोचन,
तथा बद्रिकाश्रम में रहता, कर्णीनाथ भव मोचन।
स्वर्गलोक में देव-देव मैं, मृत्युलोक में सदा शिव,
तथा वासुकीनाथ पातालहि, यम मंदिर में हूँ यमराट ॥

नारायण बैकुण्ठ धाम में, गोलों के हर, हरी विराट,
गन्धर्वों के लोक बीच में, धनु' पुष्प गंधेश्वर।
श्मशान में भूतनाथ में, ग्रह के बीच जगद्गुरु,
शंकर और विश्व अज है, कामजनों में कामेश्वर॥

यक्ष बीच कुल नाम, वणिक में है धनदेश्वर।
भक्तों को स्वर्गलोक, शत्रुओं को त्रिपुरान्तक,
प्रिय शिष्यों के बीच गुरु में, तथा परम गुरु।
चन्द्रलोक में सोमनाथ है, भानु लोक में भानु॥

तीन लोक में लोकनाथ में, यह लोक में स्वयं महेश।
उदधि मथन के काल में, नीलकण्ठ त्रैलोक जित,
जम्बुद्वीप में जगकर्ता है, शाक द्वीप में भानु जी,
कुश द्वीपमें कपर्दीश प्रिय क्रौंच द्वीप सुकपाल भृत॥

मणि द्वीप में सोमनाथ में, प्लक्ष द्वीप में शशिश्वर,
पुष्कर द्वीप में वास में करता, बन करके पुरुषोत्तम।
वेद बीच में वासुदेव है, गुरु के बीच निरञ्जन,
तथा पुराणों में परमेश्वरहि, ध्यानिजन मन रंजन॥

आगम बीच कला में आगम, निगमों में नागेश,
ज्योतिष में सर्वज्ञ है, योग शास्त्र योगेश।
दीनानाथ बीच दीनों के, औ नागों के बीच भुजनाथ,
राजोंमें राजेश्वर है मैं हे नगनन्दनि! तो यह जान॥

सत्यलोक में परमब्रह्म में, श्री अनन्त पाताल बखान,
तथा धर्म के बीच में, लिंग रूप में ज्ञान।
मैंने शिव शतनाम का, तुमसे किया बखान॥

फल स्तुति—

ऊपर वर्णित जो हुए, श्री हर के शतनाम।
पाठ करें जगदीश जन, पूर्ण करें प्रभु काम॥

नोट—प्रस्तुत शङ्कर शतनाम स्तोत्र से नारद जी के मन को परम शान्ति प्राप्त हुई थी, इसलिये लेखक ने भक्तों की मन की शान्ति के लिए यह स्तोत्र हिन्दी में पद्यानुवाद किया है ताकि भक्तगण लाभ उठा सकें।

पुनर्जन्म —

एक सार्वभौम सत्य

[श्री प्यारेलाल 'नीरज']

हमारे धर्म शास्त्रों में आत्मा पर मरणोत्तर जीवन के तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। गीता में इस बात का उल्लेख किया गया है कि शरीर छोड़ना वस्त्र बदलने की भांति है। यथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय—
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहायजीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानिदेही।

गीता २/२२

× × ×

बहूनि मे व्यतीतानि,
जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि,
न त्वं वेत्थ परंतप॥

गीता ४/५

ईसाई और मुसलमान धर्म में पुनर्जन्म की मान्यता नहीं है। मुसलमान भाई कहते हैं कि जब कयामत आयेगी तो मुस्लिम कब्रों से मुर्दे जिन्दा होकर निकलेंगे और अपने-अपने माता-पिता से आकर मिलेंगे।

इस असत्य का उत्तर इस मुस्लिम उदाहरणों द्वारा हो रहा है।

लेबनान देश का एक गाँव कोरनाइल। वहीं के मुसलमान परिवार में जन्मा एक बालक, नाम रखा गया अहमद। बच्चा जब दो वर्ष का था तभी से अपने पूर्व जन्म की घटनाओं और सम्बन्धियों के बारे में बुदबुदाया करता था पर उसकी बातों पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। कुछ बड़ा हुआ तो अपना निवास 'खरैबी' और नाम बोहमजी बताने लगा तब भी किसी ने उसकी बात नहीं सुनी। एक दिन सड़क पर जब खरैबी के किसी आदमी को निकलते देखा उसने उसे पहचान कर पकड़ लिया।

पता लगाने पर पुनर्जन्म के शोधकर्ता वहाँ बालक सहित गये। गाँव ४० कि० मी० दूर था। लड़के के अलापे बयान उस २५ वर्षीय युवक इब्राहीम बोहम जी के साथ बिल्कुल मेल खाते गये जिसकी मृत्यु रीढ़ की हड्डी के क्षय रोग से हुई थी।

खरैबी में जाकर उसने कुटुम्बी, सम्बन्धी और मित्र, परिचितों को पहचाना उनके नाम

बताये और ऐसी घटनायें बतायीं जो सम्बन्धित लोगों को ही मालूम थीं और सही थीं। उसने अपनी प्रेयसी का नाम बताया। मिथके द्वारा दुर्घटना में मरने की बात कही। मरे हुए भाई भादर का चित्र पहचाना और बक्स खोल कर बाहर आयी लड़की के पूछने पर उसने कहा तुम तो मेरी बहिन 'हुड़ा' हो।

तुर्की के अदाना क्षेत्र में जन्मा इस्माइल नामक बालक जब डेढ़ वर्ष का था तभी वह अपने पूर्वजन्म की बातें सुनाते हुए कहता मेरा नाम अबीद मुबुरास है। उसने सिर पर बने एक निशान को दिखाकर बताया कि इस जगह चोट मार कर मेरी हत्या की गई थी। जब बालक पाँच वर्ष का हुआ और अपने पुराने गाँव जाने का अधिक आग्रह करने लगा तो घर वाले इस शर्त पर रजामन्द हुए कि वह आगे-आगे चले और उस गाँव का रास्ता बिना किसी से पूछे स्वयं बतावे। लड़का खुशी-खुशी चला गया और सबसे पहले अपनी कब्र पर पहुँचा। पीछे उसने अपनी पत्नी हातिया को पहचाना और प्यार किया। इसके बाद उसने एक आइस क्रीम बेचने वाले मुहम्मद को पहचाना और कहा तुम पहले तरबूज बेचते थे। और मेरे इतने पैसे तुम पर उधार हैं। मुहम्मद ने यह बात मंजूर की और बदले में उसे बर्फ खिलाई।

निस्सन्देह वैदिक मान्यताएँ अकाट्य हैं। ईसाई एवं मुस्लिम धर्म को इस लेख द्वारा आँखें खोल लेना चाहिए अन्यथा उनका साहित्य सदा गलत ही समझा जायेगा।

—⊛ वे धन्य हैं ⊛—

बाण का घाव कालान्तर में पुर जाता है। अस्त्र-शस्त्रों की चोट समय पाकर अच्छी हो जाती है किन्तु वाक् बाण का घाव कभी पुरता नहीं। वह सदा एकसा बना रहता है। अपने समान पुरुषों में अपमानित होना सबसे बड़ा दुःख है। वे वीतरागी संसार त्यागी राग-द्वेष से शून्य महात्मा धन्य हैं जिन्हें न मान की इच्छा है न अपमान की चिन्ता अपितु मानापमान में जिनकी चित्त वृत्ति समान रहती है।

—श्री प्रद्युम्न ब्रह्मचारी

पाप और पुण्य

[श्री पं० स्वामीनाथ जी पाण्डेय, नरसिंहपुर]

'पाप' और 'पुण्य' का शब्दार्थ

महर्षि दयानन्दजी सम्पादित उणादि-कोष में पाप और पुण्य की परिभाषायें निम्नलिखित दी हुई हैं—

पान्ति रक्षन्त्यात्मानमस्मादिति पापम् अधर्मो वा ।

(उणादि० ३/२३)

पवते पवित्रो भवति येन तत् पुण्यम् सुकृतो धर्मो वा ।

(उणादि० ५/१५)

उपर्युक्त सूक्तियों को देखने से प्रकट हो रहा है कि जिससे लोग अपनी रक्षा या पालन करते हैं, उसको 'पाप' कहते हैं ।

मनुष्य की रक्षा या पालना के दो रूप हैं— जिन चीजों को आवश्यक समझ कर मनुष्य उनके सेवन द्वारा अपनी रक्षा या पालन करता है, वे एक वर्ग में आती हैं। जिन चीजों को अनावश्यक या विपरीत समझकर मनुष्य उनसे दूर रहकर अपनी रक्षा या पालन करता है, वे द्वितीय वर्ग में आती हैं। इन्हीं द्वितीय वर्गीय वस्तुओं से अपनी रक्षा, पालना का भाव पाप में गृहीत है। दूसरे शब्दों में जिनसे बचकर रहा जाय, उन्हें 'पाप' कहते हैं। 'पाप' ही अधर्म है। जो पवित्र करता है, जिससे कोई पवित्र होता है, उसे 'पुण्य' कहते हैं। पुण्य ही सुकृत या धर्म भी कहा जाता है। पाप को दुष्कृत या कुकृत भी कहा जाय, तो निरर्थक नहीं होगा। सब प्रकार के सुन्दर काम पुण्य हैं। सब प्रकार के दुष्ट काम पाप हैं। 'पुण्य' धर्म है, 'पाप' अधर्म है, अधारक है, मारक है।

पाप और पुण्य के व्यास-सम्मत लक्षण

अष्टादशपुराणेषु,
व्यासस्य वचन-द्वयम् ।
परोपकाराय पुण्याय,
पापाय पर-पीडनम् ॥

महर्षि व्यास जी ने परोपकार को पुण्य माना है और पर-पीड़न को पाप कहा है। 'पर' का अर्थ श्रेष्ठ, साधु, अच्छा, सज्जन इत्यादि है। अतः पर-हेतु जो कार्य किया जाय, वह सब पुण्य है। पर के नाश-हेतु जो कार्य किया जाय, वह सब पाप है। गोस्वामी

तुलसीदास जी ने भी इसी के भाव को अपने शब्दों में यों व्यक्त किया है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर-पीड़ा-सम नहिं अधमाई॥

पाप और पुण्य के अन्य व्यावहारिक रूप

महर्षि मनु जी ने मनुस्मृति के बारहवें अध्याय के ५-७ श्लोकों में पाप के दस भेद संकेतित किये हैं—१. अन्याय से पर द्रव्य लेने की इच्छा, २. मन से पराया बुरा चाहना, ३. परलोक में कुछ नहीं है, ऐसा विश्वास करना—ये तीन 'मानस-पाप' कहलाते हैं। १. कठोर भाषण, २. असत्य भाषण, ३. सब प्रकार की चुगली करना तथा ४. असम्बद्ध प्रलाप करना—ये चार पाप वाणी सम्बन्धी माने जाते हैं। १. अन्याय से दूसरे का धन लेना, २. शास्त्र के विधान से अतिरिक्त हिंसा करना, ३. पर-स्त्रीगमन करना—ये तीन कायिक पाप माने जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य मन, वचन और शरीर से मुख्यतः उपर्युक्त दस पाप करता है। इन पापों को छोड़ना ही 'पुण्य' है।

मनु प्रोक्त दस पापों के सम्बन्ध में कुछ और

जब आदमी स्वार्थवश जोश में आकर गलत ढङ्ग से पर-पदार्थ लेने की इच्छा करता है, तो वह पाप करता है। मन को कुविचार इतना तुरन्त पाप में डुबो देता है। यदि कहीं उसकी गलत इच्छा पूर्ण हो गई, तो उसका साहस दुस्साहस के रूप में परिणत हो जाता है और वह सदैव पराई बुराई चाहने लगता है। पापों की अधिकता होने पर फिर 'परलोक' कुछ नहीं है, ऐसा गलत विश्वास जमा लेता है। वह अपने पापों के दुःख रूप फलों की प्राप्ति को भूलने के लिए नास्तिकता के मार्ग का पथिक बनता जाता है। न्याय-भावना, अन्याय-भावना का सतत चिन्तन, पुनः नास्तिकता, ये मानस-पाप मनुष्य के अन्दर बड़ी तीव्रता से भीतर ही भीतर घर करते हैं। अपनी मानसिक बुराइयों को पर्दे की आड़ में करने का प्रयास वह कुछ भी नहीं करता। वह नास्तिक बन चुका है। कटु-भाषण करना (अप्रिय सत्य बोलना), असत्य भाषण करना, चुगली करना और व्यर्थ की बातें बोलना, ये वाणी सम्बन्धी पाप होते हैं। कटु भाषण मन की मलिनता का द्योतक है, असत्य भाषण मन की मलिनता का द्योतक है, चुगली करना मन की लघु-भावना का द्योतक है, 'बकवाद' करना अस्थिर मन का द्योतक है। इस प्रकार जब व्यक्ति का मन मलिन होता है, तब उसका मन कुभावों से भर जाता है, तो वह वाणी सम्बन्धी पाप-रत होने लगता है। फलतः उसके मन एवं वाणी का प्रभाव उसके प्रकट व्यवहारों पर विशेष रूप से दीखने लगता है। अन्याय से दूसरे के

धन को ले लेना, अवैध हिंसा करना तथा पर-स्त्रीगमन करना ये तीन शारीरिक पाप हैं।

इन दसों पापों के मूल में मनकी मलिनता सर्वोपरि है। जब मनुष्य का मन बदल जाता है, दृष्टिकोण बदल जाता है, भाव दूषित हो जाता है, तब वह उपर्युक्त दस पापों का शीघ्र या देर में शिकार बन जाता है। उससे उपर्युक्त पाप यथावत् होने लगते हैं। उसको उसीमें मजा मिलने लगता है। वह इस प्रकार के पाप करने का अभ्यासी बन जाता है। वह ऐसा दिखाता है, जैसे उसको अपने कामों से किसी प्रकार की ग्लानि नहीं है, पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं होती। वह व्यक्ति जीवन में अपने किये के लिए विकट अफसोस करता है और अपनी दुर्गति से अपने दिल को भीतर-भीतर खाक भी करता है। जिस वस्तु स्वार्थहेतु सब कुछ किये होता है, वह सब छोड़-छोड़कर जाते प्रतीत होते हैं। पर ऐसा नहीं है कि जैसा चाहे बना लें और सुख भी इस प्रकार के मन से प्राप्त कर लें।

मनुष्य के आचार्य महर्षि मनु जी ने यह जो बताया है कि जिस काम को करके, करते हुए और करने की इच्छा से सर्वदा मन में प्रसन्नता तथा उल्लास का समावेश हो, निर्भयता का अनुभव हो, वह अच्छा काम है, पुण्य काम है, पुण्य है। जिस काम को करके, करते हुए और करने की इच्छा से सदैव मन में भय, घृणा, लज्जा, शोक इत्यादि का अनुभव हो, वह बुरा काम है, पाप कर्म है, पाप है। एक दूसरी बात है कि अपने आसपास ऐसे व्यक्तियों का घेरा-चारों ओर मौजूद खड़े हों, एक स्वभाव के हों, स्वार्थवश भयशील रहते हों, कुछ कहने या पोल खोलना उठाने में डरते हों, तो अपने को सर्वोपरि मानकर अपने मन में कोई खास ग्लानि न हो पर समाज की परिस्थिति के अनुसार जब दुर्दिन आते हैं और अपने तथाकथित सहायक नहीं रहते, तब आगे कुकृत्य मस्तिष्क पर धारण करके वेदना देने लगते हैं। मन के इस रोग की दवा खोजने से भी नहीं मिलती। ईश्वरीय दण्ड या स्थायी सरकार का दण्ड ही कुछ-कुछ राहत देना प्रारम्भ करते हैं।

पाप के दुःखद फल सदा प्राप्त नहीं होते, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि पाप हुआ ही नहीं। शास्त्रों में बताया है कि जैसे समय पाकर गायें बछड़े और दूध देती हैं, वैसे ही पाप समय पाकर अपना कटु फल देते हैं। अपने किये का फल अवश्य मिलता है और कर्ता को ही मिलता है। जैसे हजारों गायों में बछड़ा अपनी माँ के पास ही जाता है, वैसे ही पापकर्ता के पास ही फल जाता है, अन्य के पास नहीं जाता। शास्त्र इस बात को डंके की चोट से बता रहे हैं कि यदि लौकिक सरकार की निगाहों से कोई बच गया तो भले ही बच गया, पर सरकार की सर्वोपरि सरकार

प्रभु-शक्ति से वह व्यक्ति नहीं बच सकता। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि परलोक में भगवान् ने दण्ड दिया, इसका क्या प्रमाण है?

पाप-पुण्य का फल दुःख-सुख प्रभु-प्रदत्त

प्रायः देखा जाता है कि एकही माता-पिता के अनेक पुत्र परस्पर एक समान नहीं होते। गुण-कर्म-स्वभाव की विभिन्नता सदा पाई जाती है। समान-सुविधा और समान-अवसर पाने पर भी उनके विकास-क्रम में वैभिन्न्य-भाव देखा जाता है। मानवेतर प्राणी विभिन्न गुण-कर्म-स्वभाव के पाये जाते हैं। मानव-वर्ग में भी सभी लोग समान गुण-कर्म-स्वभाव के नहीं पाये जाते। सुख-दुःख एक समान सबको नहीं मिलता। संसार में एक काल में विभिन्न स्थानों में विभिन्न माता-पिताओं से अनेक बच्चे पैदा होते हैं। पर उनके सुख-दुःख में एकता नहीं होती। आखिर पूर्वजन्म स्वीकार करने वाले लोग यह कहकर कि सभी अपने पूर्वजन्म कृत पाप-पुण्य का फल लेकर आते हैं, अतः विभिन्नता रहती है, एक तरफ जा सकते हैं। पर जो लोग पूर्वजन्म नहीं मानते, वे इसका क्या उत्तर देंगे कि ऐसी विभिन्नता क्यों है। जो लोग पूर्वजन्म नहीं मानते, पर ईश्वर विश्वासी होते हैं वे लोग क्या उत्तर रखते हैं? यदि उनका मत यह हो कि ईश्वर सर्व-शक्तिमान एवं सर्वोपरि होनेसे जिसको जैसा चाहता है, बना देता है। परन्तु यह कथन ईश्वर के न्याय धर्म का बाधक है, अतः न्यायकारी भगवान् ऐसा नहीं कर सकता। आजकल ऐसी कई घटनायें भी पढ़ने को मिला करती हैं कि अमुक व्यक्ति ने अपने पूर्वजन्म की सटीक सप्रमाण बातें बतायीं। यदि पूर्वजन्म नहीं होता, यदि आत्मा का अस्तित्व शरीर से अलग नहीं होता, यदि सर्वोपरि न्यायकारी व्यापक भगवान् की व्यवस्था नहीं होती तो सुख-दुःख में अन्तर नहीं पड़ता, मरने का भय नहीं सताता और इच्छा न होते हुए भी दुःख से जीव ग्रस्त नहीं होता। विभिन्न श्रुति इस बात की घोषणा करती है कि जीव अपनी कई जन्मों की दौड़ में कहाँ तक पहुँच चुका है। कोई ज्ञान मार्गी होकर ज्ञानार्जन में मग्न होता है। कोई शासन मनोवृत्ति लेकर न्याय-परायणता का पोषक होता है। कोई अर्थशास्त्र प्रवीण होता है। कोई ज्ञान, बल, अर्थ-नीति सबसे हीन होकर केवल शारीरिक परिश्रम मात्र ही कर पाता है। कोई भी दो व्यक्ति समान स्वभाव के नहीं होते। फिरभी अनेक प्रवृत्तियों के समूह को केवल दो ही वर्गों में विभक्त कर सकते हैं जो परोपकार-हेतु सर्वत्र अपनी यथाशक्ति कार्यरत रहते हैं, सदा ऐसी चेष्टायें करते हैं कि सर्वत्र ही परोपकार-प्रवृत्ति की निरन्तर धारा प्रवाहित होती हुई जन-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे जो पर-पीड़न हेतु सर्वत्र ही कुत्सित कर्म करते रहते हैं, सदा ऐसी चेष्टायें करते हैं

कि सर्वत्र ही शोषण, उत्पीड़न, दमन, अशांति, असन्तोष इत्यादि मानवता-बाह्य कार्यों की निरन्तर धारा प्रवाहित होकर जन-कल्याण की चिन्ता से दूर उनकी लघु स्वार्थ की पूर्ति करते रहे। प्रथम प्रकार के लोग निवृत्ति मार्ग के अनुगामी होते हैं और सदा सर्वत्र ही सब काम कर्तव्य कर्म समझकर करते हुए लोक-संग्रह की चेष्टा से आत्म-तुष्टि रहते हैं। मार्ग की बाधाओं से भयभीत नहीं होते और अपूर्व क्षमता से प्रगति-पथ के पथिक रहते हैं। द्वितीय प्रकार के लोग प्रवृत्ति-मार्ग के अनुगामी होते हैं और सदा सर्वत्र ही सब काम सकाम-भाव से करते हुए लोक-संग्रह की महोदय भावना से दूर सदा अशान्त रहते हैं। मार्ग की बाधाओं से भयभीत होकर सदा विचलित होते रहते हैं और असफलता से हीन अधोगति के गर्त में उत्तरोत्तर गिरते जाते हैं और तब तक गिरते हैं, जब तक कि सब विनाश नहीं हो जाता। कभी-कभी भाग्यशाली जीव पूर्ण विनाश से पूर्व ही चेत जाता है और प्रगति-पथ का राही बन जाता है। निवृत्ति मार्ग का पथिक भाग्य प्रदत्त भोगों का योग सहर्ष करता है और नित्य नूतन पवित्र कर्मों के सम्पूर्तीकरण में तन-मन-धन से तल्लीन भी रहता है। वह सुख में इठलाता नहीं और न दुःख में दीन बनकर कर्म-हीन ही बनता है। वह भट्ठी में तपाये सोने की भांति कठिनाइयों से और भर उठता है। प्रवृत्ति-मार्ग का अनुगामी भाग्य प्रदत्त भोगों का भोग जो सुख रूप होता है, उसको सहर्ष भोगता है, पर दुःख रूप फल के भोगने में बड़ा दीन तथा हीन परिलक्षित होता है। यह पुरुषार्थ-विहीन होकर दुःखों की भट्ठी में खोटे सोने की भांति पिघलकर अपना अस्तित्व ही खो बैठता है, वह अपना बड़प्पन मिटा देता है, उसका खोटापन प्रकट हो जाता है, उसकी कमी का पर्दाफाश हो जाता है, वह कठिनाइयों में खोटा सोना सिद्ध होता है। प्रवृत्ति मार्ग का पथिक नित्य नूतन कार्यों के सम्पूर्तीकरण की क्षमता से दूर होता है। यह 'मीठा-मीठा गप्प तथा कड़ुवा-कड़ुवा थू' की कहावत चरितार्थ करता है। निवृत्ति-मार्गगामी सदा कर्मठ रहता है और उसके सामने यही आदर्श वाक्य याद रहता है—"तेरे फूलों से भी प्यार, तेरे कांटों से भी प्यार।" फलतः निवृत्ति-मार्गगामी कठिनाइयों को सहर्ष सहकर कर्म नदी को पार करके सुखी रहता है और प्रवृत्ति-मार्गगामी कठिनाइयों को अनिच्छा से सहकर कर्म की नदी में गोते खाता हुआ सदा दुःखी रहता है। 'सब प्रकार के गुणों से भरपूर काम को भी करके यदि आदमी कष्टों के थपेड़े खाता है, तो यह उसके पूर्व जन्म या इसी जन्म के पूर्व कृत कुकर्मों के फल है।' ऐसा सोचकर पुरुषार्थी काम करके आगे बढ़ता जाता है और सुखी होता है। कई प्रकार के दोषों से युक्त कार्य को करते हुए भी यदि

आदमी को सुख ही प्राप्त होता है, तो यह उसके पूर्व जन्म या इसी जन्म के पूर्व कृत सुकृत्यों के फल हैं।

पाप-पुण्य के फलों में ऐसा क्रम क्यों ?

गलत या सही कर्मों के समय में अन्तर होता है, अतः उनकी फल प्राप्ति के समय में भी अन्तर होना आवश्यक है। जीव नित नूतन काम करता जाता है और पिछले कर्मों के फल भी भोगता जाता है, किन्तु विचित्रता यह है कि श्रेयांसि बहुविघ्नानि—धर्म करने में ही कठिनाइयां आती हैं, यह क्यों ? इसका रहस्य यह है कि जिसकी जितनी मानसिक और आत्मिक उन्नति हुई रहती है, उसको उतनी ही कठिनाइयों के बीच चलने में भी कोई वस्तुतः आत्म-हानि नहीं होती, प्रत्युत आत्म-विकास ही होता है। वह कर्मवीर व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश से भरपूर होकर केवल कर्त्तव्य कर्मका ही पालन करता है, उसे किसी फल की इच्छा नहीं सताती, यदि फलेच्छा होती भी है, तो केवल कर्त्तव्य-कर्मकी सुसम्पन्नता की। जिसकी मानसिक शक्ति अपूर्ण विकसित रहती है, आत्मिक बल कम होता है, उसको गलत काम की टेव पड़ी होती है, वह गलत काम प्रधान रूपेण करता है, पर यदा-कदा वह नेक-कर्म भी करता आया है, उसके फल को भी भोगता जाता है। थोड़ी निगाह वाले समझते हैं कि गलत काम करने से कोई हानि नहीं, फायदा ही है। अतः डरते नहीं। एक और प्रश्नान्तर होता है कि निवृत्ति मार्गगामी व्यक्ति को, जबकि वह प्रायः नेक ही काम करता आया है, उसको अच्छे काम करते रहने पर भी दुःख मिलता है, यह आश्चर्य की व्यवस्था क्यों ? यह इसलिए है कि निवृत्ति-मार्गगामी व्यक्ति के भी पाप कर्म जो पूर्व हो चुके हैं, या इसी जन्म में हो चुके हैं, उनसे उसको मुक्ति दिलाने में कोई गड़बड़ी नहीं क्योंकि वह उनको सहकार भी पवित्र-कर्म से विचलित नहीं हो सकता। अतः पूर्ण रूपेण पवित्र बन सके, ऐसी व्यवस्था है। प्रवृत्तिमार्ग-गामी व्यक्ति लापरवाह होता है, वह कुकर्म करते हुए भी सुखही प्रायः पा लेता है, उसका रहस्य यह है कि वह अपने कुकर्मों की चरमसीमा पर पहुँच कर तब उकताहट महसूस करे और निवृत्ति की ओर ध्यान देने के लिए बाध्य हो, इसलिए ऐसी विचित्र व्यवस्था है। निवृत्ति मार्ग गामी सुख-दुःख से परे होकर कर्मवीर होता है, कर्मठ होता है, कर्त्तव्य-कर्म प्रेमी होता है, अतः संसार के माया-जाल से ऊपर उठा हुआ असाधारण शक्ति सम्पन्न पूर्ण मानव होता है। प्रवृत्ति-मार्ग-गामी सुख-दुःख के हिंडोले में झूलता हुआ पुण्य-पाप के चक्कर विशेष में पड़ा हुआ फल-वीर होता है, अवसर देखकर कर्म करता है, कर्त्तव्य-कर्म के प्रति दुकानदारी की भावना रखता है, अतः संसार

आकुल मन के भीतर छुपा हुआ साधारण शक्ति वाला अपूर्ण मानव होता है। सदा पुण्य-कर्म-कर्ता व्यक्ति उत्तरोत्तर एकदम निष्काम-कर्म-कर्ता बनकर सदा आत्मवान् और जितेन्द्रिय बन जाता है। सदा पाप-कर्म-कर्ता व्यक्ति उत्तरोत्तर सकाम-कर्मकर्ता बनकर इन्द्रियदास एवं आत्मबल में हीन होता है। ऐसी परिस्थिति में यदि वह अपने कुकृत्यों से पश्चात्ताप न करे, तो क्या आश्चर्य है? जैसे कबूतर बिल्ली से भयभीत होकर भय-मुक्ति-हेतु अपनी आँखें मूँद लेता है, फिर भी बिल्ली के हाथ से नहीं निकल पाता और नष्ट होता है, वैसे ही पापी व्यक्ति अपने कुकृत्यों के दुःख-भरी फलों की भयंकरता को भुलाने के लिए भीतरी आँखें फोड़ ले और ऊपर से अपने को निर्भीक प्रदर्शित करे, पर संसार के रंग-मंच पर ऐसा अवश्य समय आता है, जबकि उसके सर्वनाश की लीला चर्म-नेत्रों से छिपाई नहीं जा सकती। रावण पश्चात्ताप करके मरा। कंस पश्चात्ताप करके मरा। हिटलर, मुसोलिनी एवं नेपोलियन इत्यादि जैसे लोग अपने कुकृत्यों के लिए पछतावा करते मरे। राम, युधिष्ठिर, कृष्ण इत्यादि जैसे महामानव दुःख-सुख सबमें समरस रहते हुए आज भी कोटि-कोटि हृदयों में स्थित होकर सत्प्रेरणा दे रहे हैं। वर्तमान युग में महर्षि दयानन्द एवं गांधी जैसे लोग भी कष्टों की परवाह न करके जन-मङ्गलार्थ पुण्य कर्म करते हुए जीते रहे और जीवन के अन्तिम क्षण तक सदा भगवान को समक्ष रख कर लोक-हित की भावना से ही ओत-प्रोत रहे। मृत्यु का भी वैसे ही आलिंगन किया, जैसे राम-भरत-मिलन प्रसिद्ध है। वसिष्ठ और कैकेयी, इत्यादि को क्या अपने कार्यों से पूर्ण तृप्ति होती है? क्या चोर, डाकू, व्यभिचारी, जुआरी, धूर्तों, ठगों, प्रपञ्चियों, मक्कारों इत्यादि को अपनी अशोभनीय चालों से सन्तोष होता है? कदापि नहीं। आदत के शिकार ये लोग न चाहते हुए भी गलत काम कर जाते हैं। पर गलत काम जानते हुए भी उनको इसलिए नहीं छोड़ पाते कि वे भीतर। आँख के अन्धे होने से सत्प्रवृत्ति से दूर होते हैं। रेत पानी-भीत तथा कोरी रेत रस्ते पर आग से मकान बनाते जाते हैं। पुण्यकर्मा व्यक्ति अपने वैरी के प्रति भी नेक काम करने से नहीं चूकता। आदत ही बन गई है। ऐसा काल है, जब न पापकर्मों के दुस्साहस की प्रशंसा करे और न पुण्यकर्मों की धार्मिकता दया का अनादर। किसी भी परिस्थिति में पुण्य का समर्थन करना ही श्रेयस्कर है और सब प्रकार से पाप का विरोध करना ही सर्वदा हितकर है। पाप करना कागज की नाव पर चढ़कर समुद्र-यात्रा करने की दुराशा करना है। पुण्य करना जहाज पर चढ़कर समुद्र-यात्रा पूर्ण करने का समारम्भ है।

संक्षेपतः विचार्यते

सब प्रकार की उल्टी चालें 'पाप' है, सब प्रकार की सरल चालें 'पुण्य' है। 'पाप' सब प्रकार से मारक है, 'पुण्य' सब प्रकार से तारक है। 'पाप' से सब प्रकार से बचा जाता है, 'पुण्य' से सब प्रकार से रक्षित हुआ जाता है। 'पाप' दुर्बलत्व का जनक, शान्ति का शत्रु, बन्धन-कारक एवं मुक्ति से दूर करता है। पुण्य सबलत्व का जनक, शान्ति का मित्र, स्वाधीनताकारक एवं उत्तरोत्तर मुक्तिके निकट लाने वाला है। किसी संस्कृत कवि की उक्ति सचमुच विचारणीय एवं ग्रहणीय है—

> विश्वानि लोके दुरितानि नित्यं,
> पापानि सन्त्येव न संशयोऽस्ति।
> सर्वं हि लोके ननु भद्रकर्म,
> पुण्यं भवत्येव तु वेद-गीतिः॥

वस्तुतः पाप की सीमा नहीं होती, वह टेढ़ा और अनेकशः होता है। पुण्य या भद्र मानवमात्र के लिए एक-रस सदा एक होता है, सर्व-सुलभ होकर सर्व-मङ्गलदायक होता है। वेदों में सर्वदा टेढ़ी चाल से, पाप-चाल से, अन्धकार से, मृत्यु से हटकर ऋजुचाल से, पुण्य चाल से, अमृत से पूर्ण होने की प्रार्थना पुनः पुनः की गई है।

त्रिविधगुणप्रधानानां जनानां लक्षणानि कानि ?

जिस काम को करके या करते हुए या उसे करने की इच्छा से लज्जा, भय इत्यादि का अनुभव हो तो समझ लेना चाहिए कि तमोगुण प्रधान होने से व्यक्ति कुकर्म की ओर प्रवृत्त है। जिस काम के द्वारा व्यक्ति संसार में विशेष प्रशंसा चाहता है, अपनी दरिद्रावस्था का ध्यान नहीं रखता, तो समझ लेना चाहिए कि रजोगुण प्रधान होने से व्यक्ति केवल नाम के लिए व्यर्थ में अपव्यय कर रहा है। धनादि के सदुपयोग का उसे लेशमात्र भी ध्यान नहीं है। जिस काम के द्वारा व्यक्ति सबसे जानने की इच्छा करता है, जिस काम को आचरण करता हुआ भी लज्जा, भय इत्यादि का अनुभव नहीं करता, प्रत्युत जिस काम को करने से आत्मिक सन्तोष प्राप्त होता है तो समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति में सत्वगुण प्रधानरूपेण विद्यमान है। दूसरे शब्दों में, तमोगुण की विशेष पहिचान काम-वासना, रजोगुण की विशेष पहिचान अर्थ-वासना एवं सत्वगुण की विशेष पहिचान सत्यासत्य का विवेक अर्थात् धर्म है।

—श्रुति-धार

—॰ अश्रु किसलय हैं समर्पित देव ॰—

[श्री राघवेन्द्र तिवारी]

—॰❋॰—

अश्रु किसलय
हैं समर्पित देव !

एक तो यह तुच्छ सीमायें,
और मेरे अर्ध-मूर्छित वक्ष से—
दूर करती रही पीड़ायें
चढ़ चुका है एक यह दिनमान,
पूरा पर्वत की पताका मे
टोकने आतुर खड़े भगवान
किसे वंदित—
वन्दना उपमेव !
मैं कि पापी हो गया हूं यों,
'हाथ कंगन ...' की कहावत—
पुस्तकालय में मिली हो ज्यों
एक तो यह पुनः जीवीयम,
शब्द अन्यवस्थित सभी सन्देह में—
टूटने को विवश हैं संयम
फट चली है
पुरुष की अब जेब !
येलियां हैं बाल बच्चों की,
कुछ अपाहिज जन्म से हैं—
कुछ नकल हैं बुरे अच्छों की
इस तरह जुड़ने लगे हैं लोग,
कि स्वांस के हर छोर पर
आतुर उतरने रोग
किस तरह पहनूँ
धरम औरेब

—x॰x—

महात्मा श्री दादूदयाल जी

[सन्त शिरोमणि श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी]

जाति न पूछो साधु की,
पूछ लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तलवार का,
पड़ा रहने दो म्यान ॥

"फल फल से पहचाना जाता है, साधु ज्ञान से जाना जाता है, महाजन की पहचान उसकी सम्पत्ति से होती है, सोने का खरापन कसौटी से जाना जाता है, हीरा की परख जौहरी के सामने होती है, कमल के पैदा होने का स्थान कोई नहीं पूछता। चन्द्रमा की चन्द्रिका के सम्मुख उसके दोष को कोई नहीं जानता, मोती सीप से ही पैदा होता है, किन्तु सीप का आदर न कर लोग मोती को ही प्यार करते हैं। इसी प्रकार संसार में कोई उच्च कुल में उत्पन्न होने के कारण ही पूज्य नहीं हो सकता। मनुष्य की पूजा उसके गुणों के कारण होती है। जिन्होंने संसार के सभी बन्धन तृण के समान तोड़ दिये, जिन्होंने संसारी विषयों के वासनों को पृथक् कर दिया, जो संसार में "पद्मपत्रमिवाम्भसा" की भाँति रहते हैं जिन्हें सुख-दुःखादि, द्वन्द्व, हर्ष, शोकादि व्याप्त नहीं कर सकते, जो मानापमान और शत्रु, मित्र को समान समझने लगे हैं उनकी भला जाति क्या? हरिजन ही उनकी जाति है, जगदीश्वर ही उनके पिता हैं, जगदम्बा ही उनकी माता है, सन्त-जन ही उनके कुटुम्ब हैं, सम्पूर्ण वसुधा ही उनकी जन्म-भूमि है। अहा! वे महापुरुष धन्य हैं जिन्होंने ऐसे सन्तों के सत्सङ्ग से अपने को कृतकृत्य बनाया है और वे भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने ऐसे महात्माओं के मुखारविन्दु से निकला उपदेशामृत का पान किया है। ऐसे महात्माओं के उपदेश से संसार-सागर में डूबते हुए प्राणी के महापोत का काम देते हैं, जिनके द्वारा अनेकों प्राणी पार हो सकते हैं। सच्चाई के साथ दृढ़ता से इनका पल्ला पकड़ने की आवश्यकता है। महात्मा दादूदयाल जी ऐसे ही एक महापोत रूपी सन्त हो चुके हैं, जिनके नाम से आज भी लाखों मनुष्य अपने को कृतकृत्य मानकर इस संसार सागर को बात की बात में तर जाना चाहते हैं।

जन्म और वंश परिचय—

विद्वानों का मत है दादूदयालजी का जन्म फाल्गुन सुदी अष्टमी विक्रमी १६०१ में हुआ था, वे कहाँ और किसके यहाँ पैदा हुए थे, इस विषय में मतभेद है। किन्तु इतिहास लेखकों का मत यही है कि इनका जन्म गुजरात के परम प्रसिद्ध नगर अहमदाबाद में हुआ। सर्व साधारण लोगों में यह बात प्रसिद्ध है कि वे जाति के धुनिया थे। कोई-कोई इन्हें मोची भी बताते हैं, किन्तु दादू-पन्थियों का कहना है कि ये गुजराती ब्राह्मण थे। वे लोग इनके जन्म के सम्बन्ध में बताते हैं कि एक आबू में बहुत से योगी तप कर रहे थे। वहाँ पर एक योगी को यह आकाशवाणी सुनाई पड़ी कि तुम संसार में जाकर जीवों का उद्धार करो। योगिराज वाणी को सुनकर अहमदाबाद नगर में आये। वहाँ पर उन्हें लोदीराम नामक एक गुजराती ब्राह्मण मिला। उसके कोई सन्तान नहीं थी। उसने योगिराज से सन्तान के लिए प्रार्थना की। योगिराज उस ब्राह्मण के सरल स्वभाव तथा प्रेम-भक्ति से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उससे कहा, तुम कल प्रातःकाल खूब तड़के उठकर साबरमती के तट पर जाना, वहाँ तुम्हें एक शिशु मिलेगा उसे उठा लाना। लोदीराम यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और वह महात्मा जी को प्रणाम करके चला गया। दूसरे दिन वह प्रातः साबरमती के तट पर पहुँचा और वहाँ जाकर क्या देखता है कि एक अपूर्व लावण्ययुक्त सुन्दर और तेजवान् बालक साबरमती में बहा हुआ आ रहा है। बालक के मुख पर मधुर-मधुर हँसी विराजमान है, चेहरा तेज से जगमग-जगमग कर रहा है, अँधेरे में भी उस बालक के तेज से चारों ओर प्रकाश-सा मालूम होता है। निस्सन्तान ब्राह्मण उस अपूर्व-रूप, लावण्य-युक्त सुन्दर शिशु को पाकर खुशी के मारे फूला न समाया और उसे अपनी गोदी में उठाकर अपने घर ले गया। असल में वह बालक और कोई नहीं था। उन्हीं योगिराज ने अपनी काया-कल्प करके शिशु का रूप धारण कर लिया था। कालान्तर में उन्होंने दादूदयाल के नाम से संसारी जीवों का उद्धार किया।

बाल्य-काल और दीक्षा—

बाल्यकाल से ये भी असाधारण बालकों की भाँति ही भगवत चर्चा, कथा, कीर्तन तथा भजन में ही अपना समय व्यतीत करते थे। बालकों के साथ खेल-कूद में भी ये भगवत् चरित सम्बन्धी खेल खेला करते थे। ११ वर्ष की अवस्था में आकर परमपुरुष ने इन्हें स्वयं दीक्षा दी और इनके मस्तक पर हाथ रखा। इस सम्बन्ध में इन्होंने स्वयं लिखा है—

दादू गैब माँहि गुरुदेव मिल्या,
पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धर्या,
देख्या अगम अगाध॥

कोई-कोई दयाल जी को दूसरे बुड्ढानन्द नामक किसी महात्मा को इनका गुरु बताते हैं, किन्तु ये कोरी कल्पना ही मात्र है, असल में इनके गुरु गोविन्द ही थे। ऐसे महापुरुष नाम-मात्र को भले ही किसी को गुरु धारण करलें, यथार्थ गुरु तो इनका वही है, जिसकी आज्ञा से ये जनता का उद्धार करने के लिए आते हैं।

तीर्थ-यात्रा और भ्रमण—

२६ वर्ष तक दादूदयाल जी क्या करते रहे? इसका हाल ठीक-ठीक नहीं मिलता। सर्व साधारण लोगों का विश्वास है कि ये इतने दिन तक रुई धुनने का काम करते रहे। दादू-पन्थियों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि दादूदयाल जी ने कुछ काल तक लोक दिखावे के लिए रुई धुनने का काम कर लिया था, जिससे अधिक प्रतिष्ठा न हो। अस्तु—कुछ भी सही, २६ वर्ष तक दादूदयाल जी कोई सांसारिक व्यापार ही करते रहे होंगे। ये आजन्म अविवाहित ही रहे। २६ वर्ष की अवस्था में ये देश-पर्यटन के लिए निकले। अनेक स्थानों में घूमते हुए सम्वत् १६३० वि० में ये साँभर आये और वहाँ लगभग ६ वर्ष तक रहे। उस स्थान को किसी कारण से छोड़ कर आमेर में आ विराजे। जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी थी। वहां आप १४ वर्ष तक रहे। सम्वत् १६५० में आमेर को भी आपने छोड़ दिया और राजपूताने के अनेक राज्यों में ८-६ वर्षों तक भ्रमण करते रहे। उस समय इनकी ख्याति चारों ओर फैल गई थी। राज-दरबारों में भी इनका सम्मान होने लगा था। उस समय दिल्ली के तख्त पर अकबर बादशाह था। उसने भी इनकी प्रशंसा सुनी और उसकी प्रार्थना करने पर सम्वत् १६४२ में दादूदयाल जी ने उससे फतहपुर सीकरी में भेंट की। अकबर साधु, महात्माओं से बड़ा प्रेम करता था। उसे अच्छे-अच्छे साधुओं से मिलने का बड़ा चाव था। दादूदयाल जी से बहुत दिनों तक इसका निरन्तर सत्संग होता रहा। ये जयपुर, मारवाड़, बीकानेर आदि रजवाड़ों में भी बहुत दिनों तक रहे। विशेषकर आपका भ्रमण राजपूताने में ही होता रहा। अन्त में सम्वत् १६५९ में आप नाराना ग्राम के पहाड़ी पर आकर ठहर गये।

शील स्वभाव—

दादूदयाल जी बड़े ही सरल, विनयी और अभिमान रहित महापुरुष थे। ये सबको दादा कहा करते थे, अतः लोग "दादू" कहने लगे और वे बहुत ही कोमल दयालु थे, इसलिये लोगों ने इनके नाम के पीछे "दयाल" का विशेषण जोड़ दिया। इनकी दयालुता के सम्बन्ध में बहुत सी कथायें प्रसिद्ध हैं, इनमें से तीन कथायें हम नीचे लिखते हैं।

(१) दादूदयाल जी बहुत ही सादे वस्त्र से रहते थे। साधारण आदमी उनके वेश को

देखकर इन्हें पागल ही समझता। दादूदयाल जी की ख्याति देश में सर्वत्र फैल गई थी। इनका नाम सुनकर काशी के दो विद्वान् पंडित इनसे योग की दीक्षा लेने की नीयत से इनके पास आये। उन दिनों ये भराने की पहाड़ी के पास रहते थे। पण्डित लोग जब पहाड़ी के पास पहुँचे तब उन्हें वहाँ कोई स्थान न दीखा, उन्हें सामने एक बावला-सा आदमी आता हुआ दिखाई दिया। उसे देखकर पण्डितों ने पूछा—"क्यों भाई! यहाँ दादूदयाल जी कहाँ रहते हैं, उनका स्थान कौन-सा है?" यह सुनकर वह आदमी हँस पड़ा। पण्डितों ने समझा, कोई पागल है, इसलिए उन्होंने इन्हें खूब तंग किया। इनके सिर पर दो-चार चपत भी जमा दी। ये तनिक भी नाराज न हुए और हाथ के इशारे से दादूदयाल जी का स्थान बताकर दूसरी ओर चले गये। वे पंडित जब दादूदयाल जी के स्थान पर पहुँचे तब वहाँ उन्होंने देखा कि बहुत से आदमी वहाँ पर दादूदयाल जी के दर्शनों के निमित्त बैठे हुए हैं। उस समय दादूदयाल जी वहाँ नहीं थे; कहीं पहाड़ी पर चले गये थे। ये लोग भी वहाँ जाकर बैठ गये। बहुत देर के पश्चात् दादूदयाल जी वहाँ आये। बैठे हुए दर्शनार्थी उन्हें आता हुआ देख कर आदर के साथ खड़े हो गये। दोनों पंडित भी अन्य लोगों के साथ शिष्टाचार के लिए खड़े हुए। जब उन्होंने दादूदयाल जी के मुख की ओर देखा, तब तो उनकी विचित्र दशा हो गई, मुख सूख गया, काटो तो बदन में लोहू नहीं। अरे यह क्या? ये तो वे ही महापुरुष हैं, जिन्हें हमने थोड़ी देर पहले पागल समझ कर पीटा था। इनकी ऐसी दशा देखकर दादूदयाल जी हँसे। सबसे पहले आप उन्हीं दोनों से मिले और बोले—"भाई! तुम इतने चिन्तित क्यों होते हो? अरे! जब बाजार में दो पैसे की हाँडी खरीदने जाते हैं, तब उसे ठोक बजाकर लेते हैं। तुमने कोई बुरा काम थोड़े ही किया है। लोक में कहावत है—

"पानी पीजे छानकर, गुरु कीजे जानकर।"

"तुमने मुझे ठोक-बजाकर देख लिया। यह अच्छा ही किया।" यह सुनकर उन बेचारे पंडितों की क्या दशा हुई होगी, इसका अनुभव तो वे ही कर सकते हैं। अन्त में वे लोग दादूदयाल जी के शिष्य हुए और उनसे योग की शिक्षा ग्रहण करके अपने स्थान को लौट गये।

(२) एक बार ये एक स्थान में बैठे भजन कर रहे थे। समाधि में मस्त थे, अपने शरीर का भी ध्यान नहीं था। इनकी ऐसी दशा देखकर इनके कुछ विरोधियों ने इनका समाधि-स्थान चारों ओर से ईंटों से घेरकर बन्द कर दिया। जब इनकी समाधि भंग हुई तब उन्होंने अपने को चारों ओर से बन्द पाया। यह देखकर उन्होंने फिर समाधि लगा ली। तीन-चार दिन के पश्चात् आसपास के सब लोगों को यह समाचार विदित हुआ। उन्होंने आकर ईंटों को हटाया और दादूदयालजी से प्रार्थना

को कि "आज्ञा हो तो इस दुष्टों को यथोचित दण्ड दिया जाय।" इस पर दादूदयाल जी ने जवाब दिया—"भाई! जिनके कारण हमें भगवद् भजन करने का अधिक सुभीता प्राप्त हुआ, वे धन्यवाद के पात्र हैं। उन्हें दण्ड न देकर पारितोषिक देना चाहिए।"

× × ×

एक बार आप किसी मुसलमान काजी के साथ बैठे हुए ज्ञान-गोष्ठी कर रहे थे। बातों-ही-बातों में काजी साहब बिगड़ गये और झुंझलाकर उन्होंने दादूदयाल जी के गाल पर जोर से एक तमाचा मार दिया। तमाचे को खाकर दादूदयाल जी तनिक भी कुपित नहीं हुए, किन्तु उन्होंने नम्रतापूर्वक अपना दूसरा गाल काजी के सामने कर दिया और कहा—"एक तमाचा इसमें और मार दीजिए जिससे दोनों गालों को बराबर-बराबर हिस्सा मिल सके।" काजी यह सुनकर बड़ा लज्जित हुआ और उसने अपने अपराध के लिए इनसे क्षमा माँगी।

जब हम इन कहानियों को सुनते हैं, तब दिल पानी-पानी हो जाता है। इतनी बड़ी सहनशीलता क्या मनुष्य के जीवन में सम्भव हो सकती है? किन्तु नहीं, जिन्होंने अपने विरोधियों से ही शिक्षा ग्रहण करने का व्रत ले रखा है, उनके सम्बन्ध में कोई भी बात असम्भव नहीं है। दादूदयाल जी कहते हैं, निंदक तो बड़ा दयालु है, वह बिना ही कौड़ी दाम लिए हमारा उपकार किया करता है। उन्हीं के शब्दों में आप निंदक की स्तुति सुन लीजिये—

> निंदक बाबा बीर हमारा।
> बिन ही कौड़ी बहै बिचारा॥
> कोटि कर्म के कलमष काटै।
> काज सँवारे बिन ही साटै॥
> जुग-जुग जीवौ निंदक मोरा।
> रामदेव तुम करौ निहोरा॥

जिनके सामने इतना ऊँचा आदर्श हो, जो निन्दक को भी अपना उपकारी गुरु समझता हो उसके लिए, फिर क्रोध करने के लिए स्थान ही कहाँ रहा। सचमुच ऐसे ही महानुभाव दयाल कहलाने के पात्र हैं। लोगों ने दादूदयाल जी को 'दयाल' की उपाधि उनकी दयालुता के अनुरूप ही दे रखी थी।

—'भक्त चरितावली' से साभार

श्री हनुमान के सीता-शोध का

आध्यात्मिक रहस्य

[डा० श्री श्यामाकान्त जी द्विवेदी, 'आनन्द']

अध्यात्मिक अन्तर्यात्रा में हनुमान और सीता का रहस्यार्थ पौराणिक उपाख्यान के वाच्यार्थ से पूर्णतया भिन्न है। हनुमान अन्तर्यात्रा के एक यात्री हैं और सीताजी उस यात्रा का अन्तिम लक्ष्य। यदि हनुमान को 'साधक' हैं तो सीताजी 'साध्य'। यदि हनुमान 'योगी' हैं तो सीता योगी का लक्ष्य 'योग' है। अन्तर्पथ के यात्री हनुमान का पाथेय ज्ञान है। हनुमान वैराग्य हैं। ज्ञान का पाथेय लेकर वैराग्य द्वारा शान्ति-शोध में प्रवृत्त होना ही हनुमान द्वारा सीता-शोध किया जाना है।

'वैराग्य' के बिना कर्म, ज्ञान एवं उपासना तीनों अपूर्ण हैं। वैराग्य ही कर्म को भक्ति के पास, भक्ति को ज्ञान के पास एवं ज्ञान को शान्ति के पास पहुँचाता है। हनुमान वैराग्य साधना के प्रतीक हैं एवं वैराग्य स्वरूप हैं—

'प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन तनय,
विषम वन भवनमिव धूमकेतु।'

(विनय पत्रिका ५८/८)

"जयति [illegible],
ब्रह्मलोकादि-वैभव-विरागी।"

(विनय पत्रिका २९/२)

'वैराग्य' क्या है? महर्षि पतञ्जलि वैराग्य की मीमांसा करते हुए कहते हैं—

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य
वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(योगदर्शन १/१५)

दृष्ट एवं आनुश्रविक भोगों से वितृष्ण चित्त का पूर्ण वशीकरण किया जाना ही वैराग्य है। "ज्ञान की चरम सीमा ही 'वैराग्य' है।—

ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्।"

(योगभाष्य १/१६)

इसके ठीक पश्चात् ही कैवल्य की सम्प्राप्ति होती है—

'एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।'

(योगभाष्य १/१६)

श्री हनुमान जी को परम विरागी होने के कारण ही 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' कहा गया है; क्योंकि ज्ञान की पराकाष्ठा 'वैराग्य' है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि—

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(योग० १/१६)

प्रकृति पुरुषान्यताख्याति से गुण-वैतृष्ण्य का आविर्भाव होना ही 'पर वैराग्य' है।"

योगियों का परम प्राप्तव्य 'योग' है। इस योग की प्राप्ति के दो साधन हैं (१) अभ्यास और (२) वैराग्य। अभ्यास और वैराग्य से चित्तवृत्ति निरोध की प्राप्ति होती है—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'

(यो० सू० १/१२)

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

(यो० सू० १/२)

योग का मूल वैराग्य है। वैराग्य ही योग का परम साधन है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में जिन्हें ब्रह्म से एकीभाव प्राप्त करने का अधिकारी बताया है, उनमें वैराग्य सम्पन्न व्यक्ति की भी गणना की है—

'ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।'

(१८/५२)

वैराग्य का लक्ष्य शान्ति है। उसका मार्ग ज्ञान है। उसका कर्त्तव्य-कर्म योग है। समस्त प्राणियों का एकमात्र लक्ष्य 'शान्ति' है। श्री रामोपाख्यान में सीता ही शान्ति है। जहाँ शान्ति होगी, वहीं पूर्णता होगी और जहाँ पूर्णता होगी, वहीं एकरस, अखण्ड एवं शाश्वतिक आनन्द होगा। अतः शान्ति समस्त प्राणियों का नैसर्गिक एवं प्रतिक्षण-प्रवृत्त व्यापार है, क्योंकि उसके बिना सुख कहाँ—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(गीता २/६६)

शान्ति स्वरूपिणी सीता जब जनकपुरी में महाराज जनक के यहाँ अवतरित हुईं, तब उनके प्राणवल्लभ श्री राम को अन्तर्यामी होने पर भी पद यात्रा करनी पड़ी। उन्हें अपनी शान्ति-स्वरूपा सीता के लिए 'भव-चाप' तोड़ना पड़ा—

'भंजेउ राम आपु भव चापू॥'

भव-चाप को तोड़े बिना ब्रह्म को भी शान्ति नहीं मिली। भव-समुद्र को लाँघे बिना हनुमान को भी सीता रूपी शान्ति नहीं मिली।

प्रवृत्ति मार्ग स्वरूप लंका में मोह रूपी राजा रावण राज्य किया करता है। वही शान्ति का अपहरण करने वाला है। समस्त संसार मोह-निशा में सोता है, किन्तु योगी इसमें भी जागता रहता है और अपनी साधना में प्रवृत्त रहता है—

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी।
परमारथी प्रपंच बियोगी॥

(मानस २/९३/१-१/२)

या निशा सर्वभूतानां,
तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि,
सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
(गीता २/६९)

श्री हनुमान सीता-शोध के लिए इसी निशा में यात्रा करते हैं, क्योंकि योगी के लिए संसार की रात्रि ही दिन है एवं संसार का दिन ही रात्रि ।

योगी की यात्रा गोपनीय होती है, क्योंकि वह वैराग्य स्वरूप होने के कारण आत्मविज्ञापन नहीं करना चाहता, कारण, यह योग-मार्ग के लिए अनुचित है । इसीलिए हनुमान जी रात्रि में यात्रा करते हैं—

'अति लघुरूप धरौं निसि नगर करौं पइसार ।'

हनुमान जी का सीता-शोध हेतु रात्रि में यात्रा करना, साधक के लिए अन्तर्साधना को पूर्णतया गोपनीय रखना एवं 'जग-जामिनी' में सदा जाग्रत रहने का संकेत है । तुलसीदास जी भी यही संकेत करते हैं—

जागु, जागु, जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी ।
देह, गेह, नेह जानि जैसे घन-दामिनी ॥
(विनय पत्रिका ७३/१)

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी ।
परमारथी प्रपंच बियोगी ॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा ।
जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥
(मानस २/९३/२)

प्राकृत पुरुषों की बात कौन कहे, स्वतः ब्रह्म श्री राम को भी अपहृत शान्ति-सीता के लिए विरह-विदग्ध स्वर में विलाप करना पड़ा— 'हा गुनखानि जानकी सीता ।' इत्यादि ।

ज्ञानियों में अग्रणी एवं सर्वोच्च योगी महाराजा जनक को शान्ति के शोध के लिए क्लिष्ट-कर्म (हल चालन) करना पड़ा । शान्ति राज-कोष में नहीं मिली, अतः घर के बाहरी क्षेत्र (खेत) में उन्हें हल चलाना पड़ा । मूलत्व (मूलाधारचक्र) में स्थित सुषुप्त कुण्डलिनी का जागरण करना ही भूखण्ड में हल चलाना है । जनक द्वारा हल चलाया जाना इसी मूलाधार चक्र-भेदन का संकेत है । महाराज जनक ने हल-क्रिया से सीता को— शान्ति-रूपिणी सीता को पुत्री रूप में प्राप्त की । जीव बिना ब्रह्म के रह सकता है किन्तु बिना शान्ति के नहीं । कौशल्या ने कहा है—

जौं सिय भवन रहै कह अंबा ।
मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा ॥
(मानस २/५६/३-४/२)

इसी प्रकार राजा दशरथ ने भी कहा है—

एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा ।
फिरइ त होइ प्रान अवलंबा ॥
(मानस २/८१/३)

बिना शान्ति सीता के महाराज दशरथ का मर्मान्तक मरण हुआ । जिस देश, समाज

एवं राष्ट्र की शान्ति नष्ट हो जाय, भला, वह भक्त तथा जीवित रह सकता है ?

साधु का परम भक्त कौन ? जो शान्ति का शोधक हो। शान्ति का शोधक कौन ? शक्तिमान् हनुमान। हनुमान महान् योगी हैं। योगी का कर्म मिलाना है।

सीता और श्रीराम को किसने मिलाया ?
सुग्रीव और श्रीराम को किसने मिलाया ?
विभीषण और श्रीराम को किसने मिलाया ?
लक्ष्मण को जीवन-दान देकर श्रीराम से किसने मिलाया ?
विरह-वारिधि में डूबते हुए भरत को श्रीराम से किसने मिलाया ?

—इन सभी को मिलाया योगिराज हनुमान ने।

योगी संसारार्णव का अतिक्रमण करके ही कैवल्यस्वरूप लक्ष्य को प्राप्त कर पाता है। इसी प्रकार श्री हनुमान सीता शोध हेतु समुद्र का अतिक्रमण करते हैं। प्रत्येक साधक को शान्ति प्राप्त्यर्थ सर्व प्रथम भव-सिन्धु का संतरण करना पड़ता है, अन्यथा वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। श्री हनुमान का समुद्रोल्लङ्घन इसी आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा का प्रतीक है। संसार-सिन्धु का संतरण करने वाला ही श्रीराम का कार्य पूर्ण कर सकता है—

जौं नाघइ सत जोजन सागर।
करइ सो राम काज मति आगर॥
राम काज लगि तव अवतारा।
....॥

राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

विभीषण का श्रीराम से तभी मिलन हो पाता है, जब वे भव-सिन्धु को पार करते हैं—

एहि बिधि करत सबेग बिचारा।
आयउ सपदि सिन्धु एहि पारा॥

अध्यात्म-जगत् की कोई भी अन्तर्यात्रा हो, किन्तु भगवान् को आगे किये बिना उसमें सफलता नहीं मिल पाती। इसीलिए सागर-संतरण के पूर्व श्री हनुमान श्री रघुनाथ जी को याद करते हैं—

यह कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा।
चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा॥
बार बार रघुबीर सँभारी।
तरकेउ पवन तनय बल भारी॥

सीताजी भी हनुमान को इसी के अनुकूल आदेश देती हैं—

रघुपति चरन हृदयँ धरि,
तात मधुर फल खाहु।

केवल वैराग्य के द्वारा ही सीता-शोध सम्भव हो पाया। बिना वैराग्य के किसी भी वस्तु के दर्शन नहीं हो पाते। ज्ञान एवं वैराग्य ही

दो नेत्र हैं, अतः ज्ञान वैराग्य के द्वारा ही सीताका शोध हो पाया—

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी।
ज्ञान विराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी।
पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

(मानस ७/१२४/७)

परमशान्ति रूप पद के प्रत्यक्ष ही ये दो नेत्र हैं—(१) ज्ञान और (२) वैराग्य। शान्ति की गवेषणा के तीन मार्ग हैं—(१) राग, (२) विराग और (३) अनुराग। (१) राग है—मोहजन्य आसक्ति, (२) विराग है—अनासक्ति और (३) अनुराग है—परमात्म-प्रेम। (१) शान्ति की प्राप्ति के लिए रावण की अनुसंधित्सा का मार्ग है—रागमार्ग। (२) शान्ति की प्राप्ति के लिए श्रीराम की अनुसंधित्साका मार्ग है—अनुराग मार्ग और (३) शान्ति की प्राप्ति के लिए श्री हनुमान की अनुसंधित्सा का मार्ग है—विराग मार्ग। जब सीता जी श्रीराम को एवं पार्वती जी श्री शिव को चाहती हैं तो वे अनुराग-मार्ग का आत्मीकरण करती हैं—

पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।
निज अनुरूप सुभग बरु मांगा॥
सती मरत हरि सन बरु मांगा।
जनम जनम सिव पद अनुरागा॥

शान्ति-प्राप्ति के फल भी भिन्न-भिन्न हैं—(१) शान्ति प्राप्ति से जनक को प्रकाश-प्राप्ति, (२) शान्ति-प्राप्ति से श्रीराम को विकास-प्राप्ति और (३) शान्ति-प्राप्ति से रावण को विनाश-प्राप्ति।

शान्ति के अनुसंधित्सु रावण का विनाश क्यों? यह इसलिए कि वह शांति का पुजारी नहीं, प्रत्युत उसका अपहर्ता है। वह जनकपुर में उसी शान्ति के प्राप्त्यर्थ शास्त्रविहित विधि से प्रयास करने पर पराजित होता है, अतः उसका बलात् अपहरण करता है। शांति-प्राप्ति का उसका मार्ग छल-छद्मपूर्ण है—

होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी।
जेहि बिधि हरि आनौं नृपनारी॥

शोध का यह मार्ग शास्त्रसंगत नहीं है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य,
वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति,
न सुखं न परां गतिम्॥

(गीता १६/२३)

इसीलिए भगवान् श्रीराम कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

शान्ति की प्राप्ति-हेतु कपट एवं बलात् अपहरण परायण होनेका दुष्परिणाम ही है—रावण का सर्वनाश। रावण की दृष्टिमें शांति पूज्या नहीं, भोग्या है। इसीलिए उसका विनाश होता है।

साधक भी आध्यात्मिक सिद्धि को भोग्या नहीं, पूज्या मानकर ग्रहण करे, अन्यथा सिद्धि विलोप एवं साधक का विनाश निश्चित ही है।

शान्ति अनुहरण का विषय नहीं, साधना का विषय है। परमात्मशून्य जड़-समाधि में भी शांति की प्राप्ति होती है, किन्तु वह शांति देखने में शांति होते हुए भी वस्तुतः अशांतिमय रहती है। सीता श्रीराम की शांति है—

भट यम नियम सैल रजधानी।
शान्ति सुमति सुचि सुन्दर रानी॥

वे अशोक के नीचे बैठी रहने पर भी सशोक इसीलिए हैं, क्योंकि उनके सामने आत्मस्वरूप श्रीराम नहीं हैं। वे कहती हैं—

'सुनहि बिनय मम बिटप असोका।
सत्य नाम करु हरु मम सोका॥'

यह इसी रहस्य का उद्घाटन है कि परमात्मशून्य जड़-समाधि में शान्ति प्राप्त होने पर भी साधक शोक से मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्येक साधना में परमात्मा की पुरस्सरता अपरिहार्य है—

'शान्ति' ज्ञान-वैराग्य की जननी है। परा-भक्ति ही शान्ति है और वही सीता है। भक्ति कहती है—

अहं भक्तिरिति ख्याता
इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्य नामानौ
कालयोगेन जर्जरौ॥

(पाद्मीय श्रीमद्भागवतमा० १/४५)

यदि भगवती भक्ति (शान्ति = सीता) के ज्ञान एवं वैराग्य पुत्र हैं, तब तो हनुमान ज्ञान-वैराग्य दोनों ही होने के कारण शान्तिस्वरूपा भक्तिस्वरूपा सीताजी के साक्षात् पुत्र हैं, क्योंकि उनके विषय में स्पष्टतः कहा गया है—

(१) प्रनवउँ पवन कुमार खल बन पावक ग्यानघन। और (२) प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजनतनय। इसीलिए तो श्री सीताजी हनुमान जी को 'पुत्र' कहकर सम्बोधित करती हैं—

'अजर अमर गुन निधि सुत होहु।'

और हनुमान जी भी सीताजी को 'माता' कहकर सम्बोधित करते हैं—

'राम दूत मैं मातु जानकी।'

साधक को शान्ति की प्राप्ति के लिए वैराग्य का मार्ग ग्रहण करते हुए मातृ भावना से अग्रसर होना चाहिए। तभी वियुक्ताकुला को वियुक्त व्याकुल के साथ सामरस्य कराने में—वियुक्ता शान्तिस्वरूपा सीता के वियुक्त परब्रह्म श्रीराम से मिलाने में साधक को साफल्य मिल सकता है, अन्यथा नहीं। यही है उपर्युक्त कथानक का रहस्य।

विरागी साधक की परीक्षा की कसौटी उसका गुणातीत होना है। परब्रह्म स्वयं गुणातीत है 'गुणातीत सचराचर स्वामी', इसीलिए उसके साधक को भी गुणातीत होना चाहिए—

'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।'

(गीता २/४५)

हनुमान गुणातीत हैं। अतः गुणसंकुल पदार्थों से विरक्त हैं। यही कारण है कि जब सीताजी यह वरदान देती हैं—

'आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना।
होहु तात बल सील निधाना॥
'अजर अमर गुन निधि सुत होहू।'

तब हनुमान को कोई प्रसन्नता नहीं होती। किन्तु जब वे यह वरदान देती हैं—

'करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥'
'करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना।
निर्भर प्रेम मगन हनुमाना॥'

तब वे हर्षित हो उठते हैं।

ठीक भी है, यथार्थ साधक की कसौटी उसकी ऐहिक सिद्धियाँ नहीं हैं, उसकी आनुरंजिता है—भगवत्कृपा। उसकी सिद्धि की कसौटी है—भगवत्प्रेम की अगाधता।

परम शान्ति का शोध एवं उसकी प्रत्यभिज्ञा केवल वैराग्य ही कर पाता है। शक्ति एवं शक्तिमान् के वियोग को संयोग में परिवर्तित करने वाला एकमात्र साधन है—भगवत्प्रेम पुरस्सर वैराग्य। शक्तिमान् परब्रह्म (श्रीराम) अपनी विछुड़ी शक्ति (सीता) की खोज के लिए केवल वैराग्य (हनुमान) को दूत बनाकर भेजते हैं। ब्रह्म अपनी बिछुड़ी शक्ति के (सम्मिलन के) आश्वासनार्थ एवं वैराग्य पर विश्वास करने के लिए अपनी मुद्रिका केवल वैराग्य को ही देते हैं। स्पष्ट है कि वैराग्य को भी बिना भगवत्कृपा के शान्ति प्राप्त हो जाना सम्भव नहीं। यदि शान्ति प्राप्त भी हो जाय तो शान्तिको वैराग्य पर विश्वास नहीं होगा।

वैराग्य तभी तक अपने उद्यमों में सफल है, जब तक ब्रह्म साधकको अपनी कृपारूपिणी प्रत्यभिज्ञा (मुद्रिका) प्रदान नहीं कर देता। अन्यथा शान्ति का साक्षात्कार हो जाने पर भी साधक को शांति, अशांति दिखाई पड़ती है और शांति साधक के विरुद्ध कुशंकायें करने के कारण उस पर विश्वास नहीं करती। मुद्रिका-प्राप्ति ही साधक और साध्य के यथार्थ साक्षात्कार का वास्तविक माध्यम है।

साधन-मार्ग में मन का त्याग होना प्रथम सीढ़ियाँ है। हनुमान का अर्थ है—'जिसका मान नष्ट हो चुका हो।' आत्माभिमान साधना जगत् का प्रधान शत्रु है। यही कारण है कि हनुमान बार-बार लघुरूप धारण करते हैं—

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा।
अति लघुरूप पवनसुत लीन्हा॥

अति लघुरूप धरौं निसि,
नगर करौं पइसार ॥

अति लघुरूप धरेउ हनुमाना।
पैठा नगर सुमिरि भगवाना॥
मसक समान रूप कपि धरी।
लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥

शान्ति की गवेषणा के प्रकारान्तर से तीन मार्ग और हैं—(१) कर्म-मार्ग, (२) भक्ति-मार्ग और (३) ज्ञान-मार्ग। वैराग्य ज्ञान-मार्ग से गवेषणा करता है, अतः हनुमान जी आकाश मार्ग से यात्रा करते हैं। ज्ञान निरालम्ब है और आकाश भी निरालम्ब है। अतः आकाश मार्ग 'ज्ञान मार्ग' का प्रतीक है। समुद्र-संतरण के बिना लक्ष्य-प्राप्ति असम्भव है।

जो नाघइ सत जोजन सागर।
करइ सो रामकाज मति आगर॥

साधक के लिए राम-काज क्या है? शान्ति सीता का खोज।

आध्यात्मिक अन्तर्यात्रा के मार्ग में अनेक बाधायें आती हैं। श्री हनुमान की यात्रा में आने वाले प्रत्यूह ही उन बाधाओं के प्रतीक हैं। ये बाधाएँ हैं—(१) सत्वगुणी माया की बाधा-सुरसा, (२) रजोगुणी मायाकी बाधा-लंकिनी और (३) तमोगुणी माया की बाधा-सिंहिका। ये तीनों नारियाँ ही त्रिगुणात्मिका माया के तीन रूप हैं। हनुमान जी को सीता-खोज में तीनों बाधायें नारी के द्वारा हुईं। अतः साधक को मायारूपी नारी से सदैव सावधान रहना चाहिए। हनुमानजी ने सुरसा को प्रणाम करके अपनी रक्षा की, रजोगुणी लंकिनी को अर्धमृता करके छोड़ दिया तथा तमोगुणी सिंहिका का प्राणान्त कर दिया। इसी प्रकार साधक को तीनों गुणोंका यथोचित उपयोग करना चाहिए, तभी वह प्रत्यूहों के पार जाकर अपनी रक्षा कर पाता है।

हनुमान जी ने लंका में पहुंचने पर सीता की खोज करने के निमित्त कनक-भवन का शोध किया। कनक-भवन का त्याग करने के बाद भी कनक-मृग पर मुग्ध सीता जी कनक-नगरी लंका में बंदिनी बन गई। इसीलिए हनुमान जी ने उन्हें कनक-भवन में खोजा। उन्होंने विचार किया कि सीताजी को कनक में शान्ति थी। अतः वे शान्ति को कनक में खोजने लगे, कनक-नगरी में सीता (शान्ति) नहीं मिली। वस्तुतः स्वर्ण में शान्ति नहीं, वहाँ शान्ति की भ्रान्ति मात्र है। यदि स्वर्ण में शान्ति होती तो स्वर्णपुर के स्वर्ण लोक के स्वामी राक्षस राजा रावण को लंका में ही शान्ति मिल गई होती, किन्तु उसे शान्ति नहीं मिली। हनुमान जी ने कनक-नगरी स्थित कनक-भवन के प्रत्येक खण्ड में सीता का शोध किया—

मंदिर-मंदिर प्रतिकर सोधा।
किन्तु मंदिर महुँन दीख बैदेही॥

हनुमान जी ने सोचा कि यहां तो सब 'सोते' वाले हैं; अतः किसी जागने वाले से सीताजी का पता पूछना चाहिए—

मन महुँ तरक करैं कपि लागा।
तेहीं समय बिभीषनु जागा॥
राम-राम तेहिं सुमिरन कीन्हा।
हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा॥

शान्ति की प्राप्ति की युक्ति किसी भगवद्-भक्त के पास ही होती है, अतः शान्ति शोधक वैराग्य (हनुमान) को उसे पाने की युक्ति मिल गई—

युगुति विभीषन सकल सुनाई।
चलेउ पवन सुत विदा कराई।
....
वन अशोक सीता रह जहवाँ॥

उस अशोक-वन में जाकर हनुमान जी ने देखा कि 'सीता बैठि सोच रत अहई।'—उस अशोक-वन में भी सीता अ-शोक नहीं, स-शोक है।

सुनहि विनय मम विटप अशोका,
सत्य नाम करु हरु मम सोका।
कपि करि हृदयँ विचार
दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु अशोक अंगार दीन्हि
हरषि उठि कर गहेउ॥

अशोक ने वस्तुतः ऐसा अंगार गिरा दिया, जिसमें जानकी जी का समस्त शोक जलकर भस्म हो गया। जानकी जी ने कहा था—'हे अशोक! मेरे शोक को दूर कर अपने नाम को सत्य करो।' अशोक ने अपना नाम सत्य कर दिया—

तब देखी मुद्रिका मनोहर।
राम-नाम अंकित अति सुन्दर॥
चकित चितव मुदरी पहिचानी।
हरष विषाद हृदयँ अकुलानी॥

राम-नाम अंकित मुद्रिका पाकर परम अशान्त सीताजी को परम शान्ति मिली—

रामचन्द्र गुन बरनै लागा,
सुनतहि सीता कर दुख भागा।

सम्भवतः राम-शून्यता वैराग्य नहीं है। वैराग्य तो वह है, जो कभी भी जरा-जर्जर न हो, शिथिल न हो, अपितु अमर रहे, सर्वत्र सर्वदा तरुण रहे। सीता रूपा शान्ति ने हनुमान रूप वैराग्य से कहा—

अजर अमर गुन निधि सुत होहू,
करहुँ बहुत रघुनायक छोहू।
करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना,
निर्भर प्रेम मगन हनुमाना।

यह निर्भर प्रेम ही तो परम शान्ति है—

निर्भरानन्द-संदोह कपि-केसरी,
केसरी-सुवन भुवनैक भर्ता।

सुन्दर काण्ड के आरम्भ के मंगलाचरण में ही श्री गोस्वामी जी ने लिखा है—'शान्तम्', 'शाश्वतम्' और 'शान्तिप्रदम्', पर शान्त वही होगा, जिसे शान्ति मिली होगी। इस काण्ड में (१) शान्ति-सीता का समाचार पाकर अशान्त श्रीराम को शान्ति मिली, (२) समुद्रतट पर बैठी हुई मरणासन्न वानरी-सेना को शान्ति मिली, (३) हनुमान जी को तो साक्षात् शान्ति देवी से वरदान पाकर परम शान्ति मिली और (४) वैराग्य पुत्र के द्वारा श्रीराम-नाम तथा श्रीराम-कथा और 'राम-नाम अंकित अति सुन्दर।' मुद्रिका पाकर शान्ति देवी को महाशान्ति मिली। अतः इस काण्ड का प्रथम मंगलाचरण 'शान्तम्' एवं 'शान्तिप्रदम्'—के घोष से आरम्भ होता है—

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाण
शान्तिप्रदम्।

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥

उद्गार (डकार) निकालना नागवायु का कर्म है। नेत्रों के पलक लगाना खोलना कूर्मवायु का तथा छींक करना कृकरवायु का, जृम्भा देवदत्त वायु का कर्म है।

× × ×

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनंजयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥

और धनंजयवायु सर्व शरीर में व्याप्त रहता है, मृत शरीर में भी चार घटी-पर्यन्त यह शरीर ही में रहता है। इस प्रकार ये दश वायु आप ही जीव के अभ्यास से कल्पित होकर सुख-दुःख का सम्बन्ध जीव को कराते हैं। मैं सुखी हूँ अथवा मैं दुःखी हूँ इत्यादि व्यवहारमेव जीव की उपाधि लिंग शरीर में होने से आपही जीवरूप होकर समस्त नाड़ियों में फिरता रहता है। यद्यपि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीव ही है तो इसका घूमना-फिरना असम्भव है तथापि जैसे चन्द्रमा तो कंपायमान नहीं है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब जल में जिस समय हो उस समय उस जल को हिलाया जाय तो चन्द्रबिम्ब हिलता दीख पड़ता है। ऐसे ही व्यवहार में दश वायुओं का घूमना तथा इन्हीं की उपाधि जीव-चैतन्य में आरोपित करते हैं।

× × ×

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥

जैसे कंदुक (गेंद) हाथ से भूमि पर ताडन करके स्वतः उछलता है, वैसे ही प्राण वायु के स्थान (हृदय) में अपानवायु तथा अपानवायु के स्थान (गुदा) में प्राणवायु के प्राप्त होने में अपानवायु जीव को आकर्षण करके एकत्र स्थित नहीं रहने देता, जैसे गेंद खेलने वालों के वश में गेंद रहता है, ऐसे ही अविद्या (माया) के वश में जीव रहता है।

× × ×

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥

जिस कारण से जीवात्मा प्राण अपानवायु के आधीन है, उसी कारण से इड़ा और पिंगला नाड़ीके द्वारा सिरके नीचे मूलाधारपर्यन्त ऊपर सूक्ष्म नासिका छिद्रपर्यन्त फिरता रहता है इसके अतिचञ्चल होनेसे इतना कठिन है कि प्राणापानवायु के साधन बिना वायु नहीं जीता जाता इसके जीते बिना हृदयकमल में ध्यान नहीं होता ।

× × ×

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥

जैसे बाजपक्षी के पैरमें डोरी बांधकर छोड़ देने पर उड़ जाता है एवं खींचने पर फिर हाथमें आ जाता है; ऐसे ही माया के अंश सत्वरज तमोगुण की वासना से बँधा हुआ जीव बुद्धि में लीन होने से उपाधिरहित शुद्धब्रह्म हो गया हो तो भी प्राणापानवायु द्वारा फिर खींचा जाता है । जाग्रत अवस्थामें फिर प्रबुद्ध हुए को वृत्ति विषय में पुनः जीवभाव को प्राप्त किया जाता है ।

× × ×

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥

ऊपर से नासाग्रकण्ठगत प्राणवायु नीचे मूलाधारस्थित अपानवायु को तथा मूलाधारगत अपानवायु नासाग्रकण्ठगत प्राणवायु को बराबर अपने-अपने ओर आकर्षण करते हैं । योगाभ्यासी पुरुष प्राणायाम से इन्हीं को जोड़कर योग (जोड़ना) कहते है इसी योग जोड़ने को हठयोग कहते हैं जो सूर्य चन्द्रमा ऐक्य कहलाते है ।

× × ×

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥
षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

प्राणवायु सारूप्यको प्राप्त हो रहा चिदाभास जीव हकार द्वारा स्वाधिष्ठानचक्र से उत्पन्न होता है और सकार द्वारा मूलाधारादि चक्रमें प्रवेश करता है । इस प्रकार से 'हंस' मन्त्र (अजपा-गायत्री) का जप जीव नित्य करता ही रहता है अर्थात् श्वास बाहर निकलने में हकार भीतर प्रवेश होने में सकार उच्चारण होता है । सूर्योदय से पुनः सूर्योदय पर्यन्त ६० घड़ी में इस मंत्रकी जप संख्या २१६०० होती है, इतना जप जीव स्वतः करता है ।

—गोरक्ष पद्धति

समाचार—

योग साधन आश्रम ऋषिकेश

का

वार्षिक महोत्सव

ऋषिकेश में पुण्यतोया पावनी भागीरथी के पावन तट पर प्रातः स्मरणीय आनन्दकन्द श्री महाप्रभु जी द्वारा संस्थापित योग साधन आश्रम का वार्षिक महोत्सव परम श्रद्धेय सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज के निर्देशन और सभापतित्व में गत ५, ६ और ७ जून सन् ७६ को अतीव उल्लास, उत्साह और उमंगपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुआ।

श्री सद्गुरुदेव जी महोत्सव आरम्भ से कई दिन पूर्व ही व्यवस्था की देख-रेख के लिए अपने योग-प्रचार के कार्यक्रम को यथा-शक्य पूर्ण करते हुए ऋषिकेश पहुँच गये थे। महोत्सव में शामिल होने के लिए आने वाले साधक भाई-बहनों के लिए आवास की व्यवस्था योग-साधन आश्रम के अलावा समीपवर्ती अन्य अनेक धर्मशाला और वैदिक आश्रम आदि में भी की गई थी। सुदूर स्थानों से कई सौ शिष्य और साधक भाई-बहन इस पुनीत महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए पधारे।

प्रथम दिन के उत्सव का आरम्भ प्रभुजी की सामूहिक आरती के पश्चात् धार्मिक संकीर्तन और भजनों से प्रारम्भ हुआ। पश्चात् श्रीसद्गुरुदेव जी का महत्वपूर्ण प्रवचन हुआ, जिसमें आपने अपने गुरुदेव महाप्रभुजी के लीला-चरित्रों का वर्णन किया। उनके योग ऐश्वर्यों पर प्रकाश डाला और अन्त में साधकों को परामर्श दिया कि वे अपनी ध्यान स्थिति और दृढ़ करने का निरन्तर प्रयास करते रहें। ऐसा करने से ही उनका लोक-परलोक सुधरेगा।

दूसरे दिन भी इसी प्रकार का कार्यक्रम रहा।

तीसरे दिन अर्थात् गंगा-दशहरा का पर्व था—एक विशाल शोभा-यात्रा ऋषिकेश के मुख्य-मुख्य बाजारों में निकाली गई। श्री सद्गुरुदेव जी तथा श्री प्रभु जी की जगह-जगह आरती उतार कर पूजन किया गया। झाँकियाँ भी इस बार पूर्वापेक्षा अधिक आकर्षक थीं और झाँकियों के आगे एक-एक कीर्तन-मण्डली भजन गाती तथा कीर्तन करती हुई चल रही थी। इसी दिन दोपहर को वेदपाठी ब्राह्मण ब्रह्मचारियों को तथा अन्य सभी भाई-बहनों को सामूहिक सहभोज दिया गया। इस प्रकार यह महोत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

झाँसी तथा दिल्ली के साधक भाइयों की कीर्तन मण्डलियों ने अपने वैराग्य-प्रधान भजन और गायनों से सभी को आनन्द-विभोर किया। बहन उषा शर्मा ने प्रभुजी के पावन चरित्रों की महिमा के मनोहर पद सुनाकर उत्सव को अधिक दर्शनीय बनाया।

Sidhayoga Regd No. L. Ac. 905

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक, संपादक तथा संचालक:
योगिराज आनंद श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सत्व-रज-तम

यदि प्रकृति में सत्व, रज और तम की साम्य अवस्था हो जाय तो वही मूल प्रकृति कहलाने लगती है। इसी प्रकार सत्व, रज, तम में विषमता हो जाने से वह प्रकृतिकी विकृति बन जाती है। यह जगत् इस विकृतिसे ही प्रकट होता है। प्रकृति और विकृति में इस तरह सत्व-रज-तम गुणों की समता और विषमता का ही भेद है। समता हो या विषमता, दोनों अवस्थाओं में यह परमेश्वर की प्रकृति है, इसमें कोई भी भेद नहीं। इसी प्रकृतिका एक अंश हमारा शरीर है, इसलिये हमारा शरीरको परमेश्वर के शरीरका एक अंश है। इसी तरह परमेश्वर के शरीरमें सबके शरीर बनाते हैं, अर्थात मनुष्यों, पशु पक्षियों, कृमिकीटादिकों, स्थावरजीवों तथा सूर्यचन्द्रादिकों के शरीर मिलाकर होने वाला, जो यह समस्त ब्रह्माण्ड बना दिखाई पड़ रहा है, यही परमेश्वर का शरीर है, जिसमें वह एकमात्र चिन्मूर्ति व्याप्त है और कोई भी उससे बाहर नहीं है। यही समझ 'विराट का दर्शन' है।

—श्री महायोगेश्वर

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विकल' बम्बईया प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई बाजार, [illegible], [illegible]